।। श्री वीतरागाय नमः।।

श्रीमद् देवसेन भट्टारक विरचित

श्रुतभवनदीपक नयचक्र

सम्पादन-अनुवाद

डॉ. राकेश जैन शास्त्री

एम.ए., जैनदर्शनाचार्य, पीएच.डी.

शोध-विषय **: जैनदर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप**

प्रकाशन :

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल

भोपाल

प्रथमावृत्ति : २००० प्रतियाँ (१९८६)
द्वितीयावृत्ति : २१०० प्रतियाँ (२०१९)

तीर्थधाम सम्मेद शिखर - २०१९ में आयोजित
पंचवर्षीय शिखर शिविर के अवसर पर प्रकाशित

पुनरावलोकन :
ब्र. हेमचन्दजी जैन, भोपाल / देवलाली
ब्र. चन्द्रसेनजी जैन, भोपाल
पण्डित संयम शास्त्री, नागपुर

मूल्य **: स्वाध्याय**

प्राप्ति-स्थान :
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु आश्रम, भोपाल

मुद्रक -

प्रकाशकीय

श्रुतभवनदीपक नयचक्र

विषय-सूची

प्रथम अध्याय : निश्चयशुद्धि का स्वरूप **1**

मङ्गलाचरण 01
नयचक्र की आधारभूत समयसार की तीन गाथाएँ 04
जीव का स्वपर्यवसितस्वभाव 07
उपनय से रहित निश्चयनय 10
निश्चयनय पूज्यतम है, प्रमाणलक्षण व्यवहार नहीं 12
निश्चयनय, परमार्थ का प्रतिपादक 13

द्वितीय अध्याय : व्यवहारशुद्धि का स्वरूप **15**

प्रमाण के प्रयोग 15
प्रमाण का संक्षिप्त लक्षण एवं उसके भेद-प्रभेद 17
नय का प्रयोजन 19
नय-प्रमाण में कथंचित् भेदाभेद 20
नय का स्वरूप 20
नयों के प्रकार 21
नयों के मूल भेद अथवा मूलनय कितने ? 21
नयों के उत्तर भेद 21
द्रव्यार्थिकनय के दश भेद 21
पर्यायार्थिकनय के छह भेद 22
नैगमनय के तीन भेद / संग्रहनय के दो भेद 23
व्यवहारनय के दो भेद / ऋजुसूत्रनय के दो भेद 24
द्रव्यार्थिकनय के दश भेदों का स्वरूप 25
पर्यायार्थिकनय के छह भेदों का स्वरूप 29
नैगमनय के तीन भेदों का स्वरूप 31

संग्रहनय / व्यवहारनय के दो भेदों का स्वरूप 32
ऋजुसूत्रनय के दो भेदों का स्वरूप 33
शब्दनय का स्वरूप 33
समभिरूढ़नय / एवंभूतनय का स्वरूप 34
नयों के सम्बन्ध में विशेष कथन 34
प्रत्येक नय का व्युत्पत्तिपरक अर्थ 35
उपनय का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद 39
सद्भूतव्यवहार 40
असद्भूतव्यवहार 41
उपचरितव्यवहार 42
असद्भूतव्यवहार के कतिपय उदाहरण 42
उपचरित-असद्भूतव्यवहार 46
निक्षेप का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद 48

तृतीय अध्याय : निश्चय-व्यवहार का अविनाभावित्व **52**

सत्कल्पना / असत्कल्पना 53
एकान्त व्यवहारी-निश्चयवादी-उभयवादी-अनुभयवादी 56
सामान्य-विशेष गुणों का स्वरूप 57
गुण-पर्याय की व्युत्पत्ति 59
द्रव्य के सामान्य-विशेष स्वभाव 65
प्रमाण-नय वाक्य (प्रमाण-नय सप्तभंगी) 67
नयों में स्वभावों की योजना 69
सर्वथा एकान्तपक्ष में दूषण 72
विरोध के तीन प्रकार 76
'स्यात्' (अनेकान्त) की सिद्धि 78
समयसार की व्युत्पत्ति 93

परिशिष्ट

समयसार गाथा ११ १२ एवं १४३ उसकी हिन्दी टीका 99

प्रारम्भिक वक्तव्य

(संशोधित एवं संवर्द्धित संस्करण)

प्रस्तुत लघु ग्रन्थ 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' के रचयिता श्रीमद् भट्टारक देवसेनाचार्य हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ को संक्षेप में नयचक्र के नाम से भी जाना जाता है: तथापि 'नयचक्र' नाम से अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। मूल 'नयचक्र' कौनसा ग्रन्थ है? - इस सम्बन्ध में विद्वद्गण अभी सहमत नहीं हो पाये हैं। यह भी सम्भव है कि मूल नयचक्र ग्रन्थ उपलब्ध ही न हो। 'नयचक्र' को लेकर जिन ग्रन्थों की चर्चा है; उनमें नयचक्रादि संग्रह, वृहन्नयचक्र, लघु नयचक्र, श्रुतभवन -दीपक नयचक्र, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, आलापपद्धति, नयविवरण, नयदर्पण, आदि प्रमुख हैं।

वर्तमान में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर ने भी एक हिन्दी गद्यात्मक नयचक्र ग्रन्थ की रचना की; जिसका संस्कृत-निष्ठ नाम 'जिनवरस्य नयचक्रम्' रखा गया, (जिसे बाद में 'परमभाव-प्रकाशक नयचक्र' के नाम से जाना गया।) इसमें पूर्वकथित सभी नयचक्रों एवं समस्त जिनागम में निरूपित नयों का सर्वांगीण चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। नयों का सम्यक् विवेचन जानने के इच्छुक साधर्मियों को उक्त ग्रन्थ अवश्य पठनीय है।

श्री माइल्ल धवल द्वारा विरचित 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' के आकार-प्रकार एवं व्यवस्थितपने के कारण उसका प्रकाशन तो सन् १९७१ में भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली से सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री के सम्पादकत्व में

प्रकाशित हो चुका है, लेकिन अन्य ग्रन्थ इसी व्यवस्थितपने के अभाव में जनोपयोगी नहीं बन सके।

प्रस्तुत 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' ग्रन्थ भी यद्यपि अपनी आध्यात्मिक शैली के कारण विशेष महत्त्व रखता है; तथापि कुछ कारण ऐसे रहे हैं, जिससे यह ग्रन्थ अभी तक अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त नहीं हो पाया है।

सर्वप्रथम बात यह है कि सम्पूर्ण देश के शास्त्र-भण्डारों में इस ग्रन्थ की प्रतियाँ अनुपलब्ध-प्राय हैं। न ही मुद्रित और न ही हस्तलिखित। इस सन्दर्भ में हमने जयपुर, सोलापुर, व्यावर, मूडबिद्री, दिल्ली आदि स्थानों के शास्त्र भण्डारों में पत्र डालकर पता भी लगवाया है, जयपुर के प्रमुख पाँच-छह शास्त्र भण्डारों में तो मैंने स्वयं जाकर पता किया है; लेकिन असफलता ही हाथ लगी।

जिस एक मात्र प्रति के आधार पर इस ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन किया गया है, उसका प्रकाशन श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने मार्च, १९४९ में कल्याण पॉवर प्रिन्टिंग प्रेस, सोलापुर से किया था; जिसका सम्पादन एवं अनुवाद कुमारश्रमण क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी ने किया था।

क्षुल्लकजी ने भी अलग-अलग हस्तलिखित प्रतियों की तलाश की थी; परन्तु उन्हें भी मात्र एक ही प्रति मिल सकी थी, उसमें भी दूसरा और तीसरा पन्ना नहीं था, जिसके आधार पर उन्होंने उक्त प्रकाशन किया था। खेद है कि हमें वह हस्तलिखित प्रति भी नहीं मिल सकी; उन्होंने अपने निवेदन में स्वयं लिखा था -

'संशोधन के लिए हमें केवल एक प्रति ही उपलब्ध हो सकी; अतः त्रुटियों का रहना संभवित है। विद्वान् लोग अवश्य संशोधन कर पढें।'

यही कारण है कि प्रस्तुत अनुवादित ग्रन्थ का अध्ययन करते समय संशोधन की बहुत अधिक गुंजाइश प्रतीत हुई, परन्तु बिना किसी पूर्वाधार के संशोधन भी कैसे किया जाए? अतः मूल संस्कृत ग्रन्थ को तो ज्यों का त्यों प्रकाशित किया गया है; परन्तु नवीन अनुवादन व सम्पादन में भी मूल भाव को अक्षुण्ण रखते हुए कार्य किया गया है। कतिपय स्थानों पर पहले के अनुवाद का भी सहारा लेना पड़ा है, एतदर्थ हम क्षुल्लक सिद्धसागरजी का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

हम श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के भी आभारी हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ का प्रकाशन करके इस ग्रन्थ को भी काल के गर्त में जाने से बचा लिया; अन्यथा क्या पता? – यह ग्रन्थ भी सदा सदा के लिए हमसे छिन जाता, जिस प्रकार गन्धहस्ति महाभाष्य आदि अनेक ग्रन्थ हमसे छिन गये हैं।

[इस सन्दर्भ में सभी पाठकों से निवेदन करता हूँ कि वे अपने यहाँ के शास्त्र भण्डारों में देखें कि इस ग्रन्थ की कहीं कोई हस्तलिखित प्रति आपके यहाँ तो उपलब्ध नहीं है। यदि कोई प्रति किसी सज्जन को मिले तो हमें अवश्य सूचित करें, ताकि इस ग्रन्थ का और अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध प्रकाशन किया जा सके।]

इस पूर्व मुद्रित प्रति में भी एकसाथ दो नयचक्र प्रकाशित किये गये हैं। दोनों ही नयचक्रों में 'देवसेन भट्टारक विरचित' – पाठ लिखा है। प्रथम नयचक्र में मुख्यतः द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक रूप आगम के नयों की चर्चा है, जबकि द्वितीय 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' में इन आगम–नयों के साथ–साथ निश्चय–व्यवहार रूप अध्यात्म–नयों की चर्चा विशेषता से की गई है।

इस ग्रन्थ की अध्यात्म-विषयक चर्चा की शैली अपनी विशिष्ट छाप छोड़ती है – यही कारण है कि वर्तमान में आध्यात्मिक

सत्पुरुष **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के सदुपदेश से प्रभावित अध्यात्म जगत् के सुप्रतिष्ठ देश–विदेश में ख्यातिप्राप्त विद्वान् **पण्डितश्री लालचन्दभाईजी मोदी** राजकोट को कहीं से पूर्वोल्लिखित सोलापुर से प्रकाशित प्रति प्राप्त हुई तो उनकी बहुत समय से इस ग्रन्थ का नवीन हिन्दी अनुवाद कराने का मन था, वे अनेक शास्त्री विद्वानों से इस सम्बन्ध में अत्यधिक आग्रह भी करते रहे हैं। इसके प्रारम्भिक कुछ अंश का अनुवाद तो उन्होंने विश्वप्रसिद्ध प्रकाण्ड विद्वान् डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल से लगभग सन् १९७८ में कराया भी था।

डॉ. भारिल्ल का नयविषयक अध्ययन अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर है: उनके सान्निध्य में रहकर मुझे जो दृष्टि मिली है, उसी के परिणामस्वरूप मैं इस लघुकाय ग्रन्थ का अनुवादन–सम्पादन करने में सक्षम हो पाया हूँ। मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस समय 'जिनवरस्य नयचक्रम्' का प्रथम भाग लिखा / पढ़ा / प्रकाशित किया जा रहा था, उस समय मुझे उनके अत्यन्त निकट सान्निध्य का लाभ प्राप्त हुआ था।

इतना ही नहीं, वे लिखते जाते थे और उनकी इस बात में रुचि होती थी कि कोई उन्हें पढ़कर सुनाए तो मैं उन्हें उनका लिखा हुआ ही पढ़कर सुनाता जाता था। इसी बीच उस विषय का खूब विचार –विमर्श चलता था, कभी–कभी तो रात के १२ भी बज जाते थे। सचमुच इतनी कठिन तपस्या के बाद ही ऐसी सैद्धान्तिक रचनाए सम्भवित हो पाती हैं; लेकिन उस तपस्या में भी कितना आनन्द आता था, उसके स्मरण मात्र से ही आज भी रोमांच हो आता है।

'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' के कर्ता श्रीमद् भट्टारक देवसेन के जीवन–समय–रचनाकाल इत्यादि के सम्बन्ध में विद्वानों के द्वारा पहले ही बहुत ऊहापोह हो चुकी है।

पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने द्रव्यस्वभाव–

प्रकाशक नयचक्र की प्रस्तावना में इस ग्रन्थ और उसके लेखक के सम्बन्ध में लिखा है –

''यद्यपि **नयचक्र** (लघुनयचक्र एवं वृहन्नयचक्र) की गाथाओं को श्लोकबद्ध करके यह नयचक्र (श्रुतभवनदीपक नयचक्र) रचा गया है, तथापि यह केवल उसका अनुवाद ही नहीं है; बल्कि इसमें ऐसे भी उपयोगी विषय हैं, जो देवसेन के गाथाबद्ध नयचक्र में नहीं हैं।

इसके प्रारम्भिक मंगल श्लोक के पश्चात् ही एक श्लोक इस प्रकार लिखा है –

जिनपतिमतमह्यां रत्नशैलादपापा-;
दिह हि समयसाराद् बुद्धबुद्ध्या गृहीत्वा।
प्रहतघनविमोहं सुप्रमाणादिरत्नं;
श्रुतभवनसुदीपं विद्धि तद्व्यापनीयम्।। २।।

अर्थात् जिनपतिमत (जैनमत) नामक एक पृथ्वी है; उसमें **समयसार** नामक रत्नों का पहाड़ है, उससे रत्न लेकर इस **श्रुतभवन-दीप नयचक्र** की रचना की गई है।

फलतः प्रारम्भ में समयसार की मूलभूत तीन गाथाओं को उद्धृत करके ग्रन्थकार ने संस्कृत गद्य में उनकी व्याख्या करते हुए व्यवहारनय की अभूतार्थता और निश्चयनय की भूतार्थता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसमें तीन अध्याय हैं; अध्यायों की अन्तिम पुष्पिका में लिखा है –

इति देवसेनभट्टारकविरचिते व्योमपण्डितप्रतिबोधके श्रुत-भुवनदीपे नयचक्रे.....।

अर्थात् इस ग्रन्थ के रचयिता भट्टारक देवसेन हैं, व्योम-पण्डित के प्रतिबोध के लिए इसकी रचना की गई है और इसका नाम 'श्रुतभुवनदीप नयचक्र' है।

उन देवसेन (गाथाबद्ध नयचक्र के रचयिता) से भिन्नता बतलाने के लिए 'भट्टारक' पद समाविष्ट किया गया है और उनके नयचक्र से भिन्नता बतलाने के लिए 'श्रुतभुवनदीप नयचक्र' नाम रखा गया है।

भट्टारक सम्प्रदाय में देवसेन नाम के तीन व्यक्ति मिलते हैं – दो देवसेन तो काष्ठासंघ के माथुर गच्छ में हुए हैं; इनमें से प्रथम देवसेन तो प्रथम अमितगति के गुरु थे। वे तो इस श्रुतभुवनदीप नयचक्र के रचयिता नहीं हो सकते, क्योंकि इसकी रचना देवसेन के गाथाबद्ध नयचक्र के पश्चात् ही हुई है।

इस संघ में दूसरे देवसेन उद्धारसेन के शिष्य हैं, यह विक्रम की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के लगभग हुए हैं। तीसरे देवसेन लाटवागड़ गच्छ में हुए हैं, वे कुलभूषण के गुरु थे। हम नहीं कह सकते कि किन देवसेन भट्टारक ने 'श्रुतभुवनदीप नयचक्र' रचा है? ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि **वे अपने विषय के अच्छे विद्वान् और सुलेखक थे।**''[१]

(१. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, प्रस्तावना, पृष्ठ १७-१८)

श्रीयुत कटारिया बन्धुओं ने भी 'जैन निबन्ध रत्नावली' में पृथक् शोधपूर्ण निबन्ध लिखकर इस विषय पर बहुत मन्थन किया है, उन्होंने इस 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' को दिगम्बर परम्परा में प्राप्त सभी नयचक्रों में सबसे प्राचीन सिद्ध किया है।

द्रव्यस्वभाव-प्रकाशक नयचक्र ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में एक गाथा ४२३ निम्न प्रकार से आती है –

सियसद्दसुणयदुण्णयदणुदेहविदारणेक्कवरवीरं।
तं देवसेणदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमह।।[२]

अर्थात् स्यात् शब्द से युक्त सुनय के द्वारा दुर्नयरूपी दैत्य के

शरीर को विदारण करने में एकमात्र श्रेष्ठ वीर – नयचक्र के कर्ता उन देवसेन नामक गुरुदेव को नमस्कार करो।

इस गाथा के आधार पर वे लिखते हैं कि –

''एक गद्य-पद्यमय संस्कृत नयचक्र सन् १९४९ में श्री रखबचन्द्रजी पाण्ड्या सनावद की सहायता से छपा है, जिसका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद क्षु.श्री सिद्धसागरजी ने किया है और जिसका प्रकाशन वर्द्धमान पार्श्वनाथजी शास्त्री द्वारा सोलापुर में हुआ है; यह ८४ पृष्ठों का है। यह भी देवसेनकृत है, जिसे व्योम-पण्डित के प्रतिबोध के लिए रचा गया है। .....

क्या यह संभावना नहीं की जा सकती है कि माइल्लदेव ने अपने 'द्रव्यस्वभावप्रकाश' ग्रन्थ में जिस नयचक्र का उल्लेख किया है, वह यही नयचक्र हो और माइल्ल धवल के भी यही गुरु हों।

इसी तरह भोजसागर द्वारा उल्लिखित देवसेन और उनका नयचक्र भी यह ही हो। इससे अधिक सम्भावना इसलिए भी है कि भोजसागर ने देवसेन के जिस नयचक्र का उल्लेख किया है, उसे वे द्रव्यानुयोगतर्कणा पृष्ठ ११६ में संस्कृत का बताते हैं।

जबकि माणिकचन्द ग्रन्थमाला से प्रकाशित नयचक्र तो प्राकृत में है, उधर दर्शनसार की वचनिका में पण्डित शिवजीलालजी ने देवसेन के जिस नयचक्र का उल्लेख उल्लेख किया है, वह भी यही नयचक्र हो, क्योंकि पण्डित शिवजीलालजी ने भी उसे संस्कृत का लिखा है।

जिस प्रकार यह संस्कृत का नयचक्र गद्य-पद्य में रचा गया है, उसी प्रकार गद्य-पद्य में आलापपद्धति भी रची गई है। दोनों के कर्ता ये ही देवसेन मालूम पड़ते हैं, न कि दर्शनसार के कर्ता देवसेन, जो १०वीं शताब्दी के हैं। ......

आलापपद्धति के आरम्भ में लिखा है – '**आलापपद्धति-र्वचनानुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते।**' तथा भाण्डारकर लाइब्रेरी की प्रति के अन्त में लिखा है – '**इति सुखबोधार्थमालापपद्धतिः श्री देवसेनविरचिता समाप्ता। इति श्रीनयचक्रसम्पूर्णम्।**' ....

इससे प्रगट है कि जिन देवसेन ने संस्कृत में नयचक्र बनाया, उन्हीं ने उसे सुख के लिए आलापपद्धति बनाई है। ये देवसेन पण्डित दर्शनसार के कर्ता से भिन्न हैं और जो प्राकृत नयचक्र है, वह माइल्लदेव कृत 'द्रव्यस्वभावप्रकाश' ग्रन्थ का एक प्रकरण है। दर्शनसार के कर्ता देवसेन का बनाया कोई नयचक्र नहीं है।[२]

(२. जैन निबन्ध रत्नावली, पृष्ठ २६८-२७०)

उक्त गाथा ४२३ के बाद वहाँ निम्न दो गाथाएँ ४२४-४२५ लिखी गई हैं –

दव्वसहावपयासं दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं।
तं गाहाबंधेण पुणो रइयं माइल्लधवलेण।।
सुसमीरणेण पोयं पेरयं संतं जहा तिरणट्ठं।
सिरिदेवसेणमुणिणा तह णयचक्कं पुणो रइयं।।

इन गाथाओं से यह तात्पर्य निकलता है कि श्री माइल्ल धवल के पूर्व आचार्य देवसेन ने दोहाबद्ध द्रव्यस्वभाव का प्रकाश करनेवाले नयचक्र की रचना की थी, जिसे उन्होंने गाथाबद्ध किया; जैसे, अनुकूल वायु के द्वारा प्रेरित हुआ जहाज तैरने में समर्थ होता है, वैसे ही श्री देवसेन मुनि ने नयचक्र को पुनः रचा।

इस प्रकार अन्तिम गाथा के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि जो प्राकृत गाथाबद्ध वृहन्नयचक्र या लघुनयचक्र, आचार्य देवसेन के द्वारा विरचित प्राप्त होता है, उसकी ओर संकेत प्राप्त होता है।

उसके बाद और कोई नये तथ्य उजागर नहीं हुए हैं; अतः तत्सम्बन्ध में हम मौन ही रहते हैं।

नयचक्र के कर्ता चाहे वे देवसेनाचार्य हों या माइल्ल धवल ! चाहे वह श्रुतभवनदीपक नयचक्र हो या द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र!! एक बात दोनों ही ग्रन्थों में विशेष ध्यान देने योग्य है – वह यह है कि दोनों ही ग्रन्थों के रचनाकारों ने श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित अध्यात्म को आधार बनाकर ही उक्त ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं।

श्रीमद् देवसेनाचार्य, श्रुतभवनदीपक नयचक्र के प्रारम्भिक दूसरे श्लोक में कहते हैं –

"जिनेन्द्र भगवान के मतरूपी भूमि में समयसाररूपी निर्दोष पवित्र रत्नपर्वत को बुद्धि के द्वारा अच्छी तरह समझकर, गाढ़ मोह को नष्ट करनेवाले तथा सम्यक् प्रमाणादि रत्नोंवाले 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' को प्रकाशमान करने के उद्देश्य से लिखता हूँ।"

इसके तत्काल बाद '**अर्थप्ररूपणाय गाथात्रयमाचष्टे**' अर्थात् सर्वप्रथम अर्थ (विषय) का प्ररूपण करने के लिए तीन गाथाएँ लिखता हूँ – ऐसा लिखकर समयसार की ही ११वीं, १२वीं एवं १४३वीं गाथाओं के पाठ दिये गये हैं।

तात्पर्य यह है कि मानो आचार्यदेव ने इन तीन गाथाओं को समझाने के लिए ही 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' लिखा हो। यही कारण है कि इसके बाद '**आसां भावार्थो विचार्यते**' अर्थात् इसका भावार्थ विचार करते हैं – ऐसा कहकर ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है।

इस ग्रन्थ में कुल अध्याय भी तीन ही हैं और उक्त गाथाएँ भी तीन ही हैं; इनमें भी कोई युक्ति प्रतीत होती है। तीनों अध्यायों एवं उक्त तीनों गाथाओं की विषय-वस्तु का गहराई से अवलोकन करने

पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम अध्याय '**निश्चय शुद्धि का स्वरूप**' के मंगलाचरण हेतु निश्चयनय का स्वरूप बताने वाली समयसार की ११वीं गाथा; द्वितीय अध्याय '**व्यवहार शुद्धि का स्वरूप**' के मंगलाचरण हेतु व्यवहारनय की उपयोगिता बताने वाली समयसार की १२वीं गाथा; एवं तृतीय अध्याय '**निश्चय-व्यवहार के अविनाभाव के निर्णय का स्वरूप**' के मंगलाचरण हेतु निश्चय-व्यवहार – दोनों नयों की सार्थकता बताते हुए उनके निर्णय पूर्वक नयपक्षातिक्रान्त होने की प्रेरणा करने वाली समयसार की १४३वीं गाथा प्रस्तुत की हो।

ग्रन्थकार की उक्त मनोभावना को ध्यान में रखकर हमने भी इस ग्रन्थ के संस्करण के अन्त में पृष्ठ १३५ से आगे परिशिष्ट के रूप में उक्त तीनों गाथाओं की आचार्य अमृतचन्द्रदेव की आत्मख्याति टीका एवं उसकी पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत वचनिका एवं भावार्थ प्रकाशित किया है।

'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' के रचयिता श्रीमद् देवसेनाचार्य के समान ही 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' के रचयिता श्री माइल्ल धवल ने भी ग्रन्थ का आरम्भ निम्न पंक्तियों से किया है –

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृतशास्त्रात् सारार्थं परिगृह्य स्व-परोपकाराय द्रव्यस्वभावप्रकाशकं नयचक्रं....आह....इति।

"श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत शास्त्र से सारभूत अर्थ को ग्रहण करके, अपने और दूसरों के उपकार के लिए द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र नामक ग्रन्थ में .... कहते हैं।

उक्त दोनों सन्दर्भों से यह बात स्वयंसिद्ध है कि नयचक्र ग्रन्थ की रचना के मूल आधार आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित समयसार आदि अध्यात्म शास्त्र ही हैं। इसी सन्दर्भ में पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य बनारसवाले तो यहाँ तक लिखते हैं –

''ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर जब आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं ने अध्यात्म की त्रिवेणी प्रवाहित कर दी तो उसमें अवगाहन करके अपना और दूसरों का ताप मिटाने के लिए अनेक ग्रन्थकार उत्सुक हो उठे। आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म ने आचार्य पूज्यपाद का ध्यान भी आकृष्ट किया था और उन्होंने समाधितन्त्र और इष्टोपदेश जैसे मनोहारी प्रकरण ग्रन्थ रचे थे।.......

दसवीं शती में आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं की रचना होने पर मुनि रामसेन ने तत्त्वानुशासन, नेमीचन्द्र ने द्रव्यसंग्रह, अमितगति प्रथम ने योगसार प्राभृत, ब्रह्मदेव सूरि ने द्रव्यसंग्रह और परमात्मप्रकाश की टीकाएँ, जयसेन और पद्मप्रभमलधारिदेव ने अपनी टीकाएँ तथा पद्मनन्दि ने पद्मनन्दि पंचविंशतिका की रचना की। इसके पश्चात् ही माइल्ल धवल ने प्रस्तुत ग्रन्थ रचा और उसमें नयों के विवेचन के साथ अध्यात्म का विवेचन किया।''[१]

(१. श्री माइल्ल धवल, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, प्रस्तावना, पृष्ठ २०)

'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' के प्रारम्भ में ही आचार्यदेव ने कहा है – **सभी जीव स्व-स्वभाव से नयपक्षातीत हैं क्योंकि सभी जीव, सिद्धस्वभाव के समान 'स्वपर्यवसितस्वभाव' वाले हैं।**

यहाँ सभी जीवों को स्व-स्वभाव से 'स्वपर्यवसितस्वभाव' वाला कहा है। अन्यत्र जिनागम में आत्मा का 'स्वपर्यवसितस्वभाव' – ऐसा विशेषण कहीं प्रयुक्त हुआ हो – यह मुझे ज्ञात नहीं है। इस शब्द का आचार्यदेव ने मौलिक प्रयोग किया है। आचार्य ने इस शब्द की व्याख्या भी उतनी ही मौलिक रीति से की है।

स्वपर्यवसित = स्व + परि + अवसित अर्थात् स्व में आश्रित अर्थात् स्वाश्रित। तात्पर्य यह है कि स्वपर्यवसित कहकर आचार्य स्वाश्रित, निरपेक्ष, स्व ही जिसका आदि और स्व ही जिसका अन्त,

स्वसंवेद्य आदि अर्थों की प्रतिपत्ति करना चाहते हैं।[१]

(१. देखें, इसी ग्रन्थ का पृष्ठ १७-१८)

इसी 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' ग्रन्थ के कतिपय महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिकता से भरपूर अंश इस प्रकार हैं –

१. सहज परिणामिक ज्ञायकस्वभाव, क्षायोपशमिकज्ञान की निवृत्ति और क्षायिकज्ञान की प्रवृत्ति; इन दोनों से असाधारण है क्योंकि वे दोनों स्वभाव, कारणान्तरों के द्वारा उत्पन्न होकर प्रगट होते हैं। (पृष्ठ ८)

२. **यद्यपि आत्मा, स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह नयों के बिना नयपक्षातीत नहीं हो सकता है।** (पृष्ठ १०)

३. **निश्चयनय तो उपनय से रहित है – यह अभेद व अनुपचार रूप लक्षणवाले अर्थ को निश्चित करता है; अतः यह निश्चयनय कहलाता है। 'स्यात्' शब्द से रहित होने पर भी इसमें निश्चयाभासपने का प्रसङ्ग नहीं आता है क्योंकि यह उपनय से रहित है।** (पृष्ठ ११)

४. व्यवहारनय की उपयोगिता, असत्कल्पना की निवृत्ति एवं सद्रत्नत्रय की सिद्धि के लिए है तथा सम्यक् रत्नत्रय की सिद्धि से परमार्थ की सिद्धि होती है। (पृष्ठ १२)

५. **व्यवहार का सम्यक् रत्नत्रय से सर्वथा भेद मानने पर निश्चय का भी अभाव हो जाएगा।** (पृष्ठ १३)

६. जब तक यह आत्मा, व्यवहारनय और निश्चयनय – इन नयों के माध्यम से तत्त्व का अनुभव करता है; तब तक परोक्षानुभूति रहती है क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति तो नयपक्षातीत है। (पृष्ठ १३)

७. **प्रमाणलक्षण वाला व्यवहारनय भी आत्मा को नयपक्षातीत नहीं कर सकता, अतः वह भी पूज्यतम नहीं है।** (पृष्ठ १४)

८. निश्चयनय, आत्मा को सम्यक् प्रकार से एकत्व प्राप्त

कराकर, ज्ञान-चैतन्य में अच्छी तरह स्थापित कर, परमानन्द को उत्पन्न कर, वीतराग करके, स्वयं निवृत्त होता हुआ, आत्मा को नयपक्षातिक्रान्त करता है; अत: वह पूज्यतम है। (पृष्ठ १४)

९. **निश्चयनय, परमार्थ का प्रतिपादक होने से भूतार्थ है, इसी का निरन्तर आश्रय लेने से आत्मा, अन्तर्दृष्टिवान् होता है।** (पृष्ठ १४)

१०. 'वीतराग' दो प्रकार के होते हैं - १. रागक्रियानिवृत्त वीतराग और २. रागोदयनिवृत्त वीतराग। (पृष्ठ १४)

११. **भूतार्थस्वरूप शुद्ध आत्मा की अद्भुत सारभूत महिमा, शाश्वतरूप से अनन्त कालपर्यन्त जयवन्त वर्तो।** (पृष्ठ १६)

१२. अनेक कारकों के माध्यम से कथंचित् भेद आदि के द्वारा वस्तु की निष्पत्ति होने से तथा उपनय से उपजनित होने से ही प्रमाण की व्यवहारता सिद्ध होती है।.... प्रमाण का जब व्यवहार के लिए प्रयोग होता है; तब वह 'स्यात्' शब्द की अपेक्षा रखता है, तभी प्रमाण का उपनयों से सम्बन्ध होता है। (पृष्ठ १६)

१३. **जो इन्द्रियों और मन के निमित्त से मननस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'मतिज्ञान' कहते हैं। किसी एक पदार्थ के अवलम्बनपूर्वक किसी अन्य पदार्थ का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। जो ज्ञान, अपनी मर्यादा के भीतर-भीतर (मूर्त पदार्थ को) विशद जानता है - ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान को 'अवधिज्ञान' कहते हैं। जो ज्ञान, मन के माध्यम से (मूर्त पदार्थ को) विशद जानता है - ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान को 'मनःपर्ययज्ञान' कहते हैं। जो ज्ञान, इन्द्रिय (-मन) की अपेक्षा से रहित बिना किसी की सहायता के जानता है, उसे 'केवलज्ञान' कहते हैं।** (पृष्ठ १६)

१४. परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक वस्तु में अविरोधरूप से सिद्धि करने के लिए नयों का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि

प्रमाणज्ञान में भी धर्मों की अविरोधता ही है क्योंकि वह तो समस्त धर्मों को प्रत्यक्षरूप (युगपत्) से विषय बनाता है; लेकिन परोक्षरूप से वस्तु के धर्मों को विषय बनानेवाले **नयज्ञान** में सभी धर्म युगपत् नहीं जाने जाते, क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। (पृष्ठ २०)

१५. **नय का प्रमाण से 'कथंचित् भेद' होने से उनके भिन्ना-भिन्न होने में कोई दोष नहीं है।.... नय और प्रमाण, दोनों श्रुतज्ञान के ही भेद या विकल्परूप होने से कथंचित् अभिन्न हैं।** (पृष्ठ २१)

१६. वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला **नय** है।

अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प **नय** है।

अथवा ज्ञाता के अभिप्राय को **नय** कहते हैं। (पृष्ठ २२)

१७. **नयों को दो प्रकार से जानते है - नय और उपनय।** (पृष्ठ २२)

१८. नयों के मूलत: दो भेद हैं अथवा मूलनय दो हैं - १. द्रव्यार्थिकनय और २. पर्यायार्थिकनय।१. नैगमनय, २. संग्रहनय, ३. व्यवहारनय, ४. ऋजुसूत्रनय, ५. शब्दनय, ६. समभिरूढ़नय एवं ७. भूतनय - ये नयों के सात उत्तर भेद हैं। (पृष्ठ २२)

१९. **द्रव्यार्थिकनय के दश और पर्यायार्थिकनय के छह भेद हैं।** (पृष्ठ २०)

२०. नैगमनय के तीन, संग्रहनय-व्यवहारनय-ऋजूसूत्रनय के दो-दो भेद हैं एवं शब्दनय-समभिरूढ़नय-एवंभूतनय एक-एक ही हैं, इनके उत्तरभेद आगम में वर्णित नहीं हैं। (पृष्ठ २५-२६)

२१. **शंका - यदि यह नय (भेद-कल्पना-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय) भेद-कल्पना से निरपेक्ष है, तो फिर इस नय का उपनय से उत्पन्न होना कैसे सम्भव है?**

समाधान - क्योंकि यह नय, परज्ञता आदि [परवस्तुओं को

जानने से सम्बन्धित सर्वज्ञता आदि] उपचरित स्वभावों को भी गौणरूप से ग्रहण करता है। (पृष्ठ २७)

२२. **जो नय, वस्तु के भाव को शुद्ध, अशुद्ध और उपचार की विवक्षाओं से रहित ग्रहण करता है; वह परमभाव-ग्राही [परमशुद्ध] द्रव्यार्थिकनय है। [इस परमभावग्राही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय को मोक्ष के अभिलाषियों को शुद्धध्यान करने के प्रयोजन से अवश्य जानना चाहिए।]**

शंका – यदि वह नय, परमभाव का ग्राहक है तो इसका उपनय से उत्पन्न होना कैसे सम्भव है?

समाधान – क्योंकि यह नय, क्षायोपशमिक आदि विशेष ज्ञान -पर्यायों का भी गौणरूप से ग्राहक है। (पृष्ठ २९-३०)

२३. **जो नय, [अशुद्ध] पर्यायों को धारण करने वाले, संसारी जीवों [की पर्यायों] को सिद्धसमान शुद्ध कहता है; वह स्वभावरूप नित्य पर्याय का ग्राहक शुद्धपर्यायार्थिकनय है।** (पृष्ठ ३२)

२४. जो आत्मा के अथवा प्रमाणादिक के अत्यन्त निकट पहुँचाता है, वह **उपनय** है। **मूलभेद** की अपेक्षा **उपनय का एक ही प्रकार** है। **उत्तरभेद** की अपेक्षा **उपनयों के तीन भेद** हैं – **सद्भूत-व्यवहार, असद्भूतव्यवहार** और **उपचरितव्यवहार। उपनयों के उत्तरभेदों के भी उत्तरभेद** निम्न प्रकार हैं – **सद्भूतव्यवहार के दो भेद** – शुद्ध-सद्भूतव्यवहार और अशुद्ध-सद्भूतव्यवहार। **असद्भूत-व्यवहार के तीन भेद** – स्वजातीय-असद्भूत-व्यवहार, विजातीय-असद्भूतव्यवहार और स्वजातीय-विजातीय-असद्भूतव्यवहार। **उपचरितव्यवहार के तीन भेद** – स्वजातीय-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार, विजातीय-उपचरित-असद्भूतव्यवहार और स्वजातीय-विजातीय-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार। (पृष्ठ ४२-४३)

२५. **वस्तु को युक्तिमार्ग से नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव में क्षेपण करना अर्थात् अच्छी तरह स्थित करना ही निक्षेप है।** (पृष्ठ ५१)

२६. यद्यपि मोक्षरूपी कार्य की सिद्धि में भूतार्थ से जाने गये आत्मा आदि ही उपादान कारण हैं, तथापि सहकारी कारणों के बिना सिद्धि नहीं होती; अतः सहकारी कारण की प्रसिद्धि के लिए निश्चय-व्यवहार का अविनाभावीपना कहा है। (पृष्ठ ५३)

२७. **जो मूढ़ता लक्षणवाली, स्वभाव-निरपेक्ष, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप और मोह के उदय से उत्पन्न होती है, वह असत्कल्पना कहलाती है, उसी की निवृत्ति के लिए निश्चय-व्यवहार की कल्पना या सत्कल्पना जिनागम में कही गई है।** (पृष्ठ ५४)

२८. सर्व वस्तुओं के सद्भाव का **सत्कल्पना** के द्वारा ही प्रतिपादन सम्भव हो सकता है। (पृष्ठ ५४)

२९. **यद्यपि असत्कल्पना की निवृत्ति करने के लिए ही व्यवहार की आवश्यकता होती है; तथापि [सर्वथा] व्यवहार से भी बस होओ; क्योंकि व्यवहार की 'स्यात्' शब्द से अंकित निश्चय के साथ निरपेक्षता नहीं हो सकती।** (पृष्ठ ५५)

३०. परमार्थ के विषय में विमूढ़ (रहित) **एकान्त व्यवहारी**, व्यवहार के विषय में विमूढ़ **एकान्त निश्चयवादी**, निश्चय-व्यवहार-उभय के विषय में विमूढ़ **एकान्त उभयवादी** तथा निश्चय -व्यवहार-अनुभय के विषय में विमूढ़ **एकान्त अनुभयवादी** – इन सभी के मोह (मिथ्या अभिप्राय) का निराकरण करने के लिए निश्चय -व्यवहार से आलिंगित वस्तु का निर्णय करना चाहिए। (पृष्ठ ५७)

३१. **कथंचित् भेद एवं परस्पर अविनाभावीपने के कारण निश्चय-व्यवहार की सहजता से अनाकुल सिद्धि होती है, अन्यथा उनका आभास (निश्चयाभास या व्यवहाराभास) ही होता है; अतः**

व्यवहार की प्रसिद्धि से ही निश्चय की प्रसिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। (पृष्ठ ५७)

३२. समीचीन द्रव्यागम (द्रव्यश्रुत) के आश्रय से सम्यक् प्रकार से सिद्ध किये हुए तत्त्व का सेवन करने से व्यवहार-रत्नत्रय की समीचीनरूप से सिद्धि होती है; इसलिए द्रव्यागम के द्वारा वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करना उपयुक्त ही है, क्योंकि उसी के द्वारा प्रसिद्ध बोध (सम्यग्ज्ञान या केवलज्ञान) की सिद्धि होती है - ऐसा आगम -वचन है; इसलिए निश्चय-व्यवहारनयों की तथा उनके आश्रयभूत अर्थ की द्रव्यागम (द्रव्यश्रुत) संज्ञा कही गई है, उसके माध्यम से भावागम (भावश्रुत / परमभावना / परमागम / अध्यात्म) आदिरूप मूलभूत वास्तविक तत्त्व की अनुभूति होती है; इस वास्तविक स्वभाव की अनुभूति के द्वारा ही सामान्य-विशेषात्मक वस्तुतत्त्व प्रकाशित होता है। (पृष्ठ ५७-५८)

३३. **अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व एवं सप्रदेशत्व - ये छह गुण, स्वजाति-विजाति सभी द्रव्यों के 'सामान्य गुण' हैं तथा चेतनत्व एवं अमूर्तत्व (चेतनत्व-अचेतनत्व में से कोई एक तथा मूर्तत्व-अमूर्तत्व में से कोई एक) - ये दो गुण 'स्वजातीय द्रव्यों के सामान्य गुण' हैं। इस प्रकार 'सभी द्रव्यों में प्रत्येक के आठ-आठ सामान्य गुण' हैं।** (पृष्ठ ५८-५९)

३४. अस्तिपने का भाव, **अस्तित्व** है; जो अपने-अपने गुण -पर्यायों में व्याप्त होता है, वही **'सत्'** कहलाता है। वस्तुपने का भाव, **वस्तुत्व** है; जो सामान्य-विशेषात्मक है, वही **'वस्तु'** है। द्रव्यपने का भाव, **द्रव्यत्व** है। (इसी कारण प्रत्येक वस्तु, **'द्रव्य'** कहलाती है।) प्रमेयपने (ज्ञेयपने) का भाव, **प्रमेयत्व** है; जो प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है, वह **'प्रमेय'** है। अगुरुलघुपने का भाव, **अगुरुलघुत्व** है; जो सूक्ष्म है, वचन-अगोचर है, प्रतिक्षण प्रवर्तमान है और आगम-प्रमाण के द्वारा

जानने योग्य हैं, वे **अगुरुलघुगुण** हैं। प्रदेशपने का भाव, **प्रदेशत्व** है। (इस गुण के कारण प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई आकार होता है।) चेतनपने का भाव, **चेतनत्व** है; जो चैतन्यरूप अनुभवन है, वही चेतनत्व है। अचेतनपने का भाव, **अचेतनत्व** है; जो चैतन्यरूप अनुभव का अभाव है, वही अचेतनत्व है। मूर्तपने का भाव, **मूर्तत्व** है; जो रूपादिस्वरूप होना है, वही मूर्तत्व है। अमूर्तपने का भाव **अमूर्तत्व** है; जो रूपादिरहित होना है, वही अमूर्तत्व है। (पृष्ठ ५९-६०)

३५. **सामान्य-विशेष गुण, एक धर्मी में वस्तुत्व के निष्पादक होते हैं, उनके परिणाम को 'पर्याय' कहते हैं।** (पृष्ठ ६१)

३६. जीवादि पदार्थों को आगम-प्रमाण के द्वारा यथोक्त मार्ग से ग्रहण करके उन्हें **नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव रूप चार निक्षेपों** में स्थापित करने पर तथा प्रमाण-वाक्यों द्वारा उनका व्यवहार किये जाने पर वे प्रकाशित होते हैं। (पृष्ठ ६१)

३७. **सत्ता का सत्ता-स्वभाव के साथ अविनाभावीपना होने से उसकी सत्ता सिद्ध है। सत्ता-स्वभाव अर्थात् परिणाम; और वह परिणाम, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।** (पृष्ठ ६२)

३८. सर्वत्र ही अन्वय के प्रसंग में व्यतिरेक का होना भी आवश्यक है, क्योंकि उनके अविनाभावी होने पर ही लक्षण की निर्दोषता मानी जाती है। जैसे - जो सत्तात्मक है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक और गुण-पर्यायात्मक है तथा व्यतिरेक की अपेक्षा जो गुण-पर्यायात्मक और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक नहीं है, वह सत्तात्मक भी नहीं है।

(पृष्ठ ६५)

३९. **वस्तु एक वास्तविक तथ्य है तथा वस्तु के अंश 'स्यात्' शब्द के द्वारा विकल्प से वस्तुतत्त्व कहलाते हैं। यही कारण है कि स्पष्टरूप से वस्तु के अंश अस्तित्वादिक कहे जाते हैं।** (पृष्ठ ६६)

४०. अस्तिस्वभाव और परमस्वभाव तो सामान्य स्वभाव हैं।

चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एकप्रदेश-स्वभाव, अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव, अशुद्ध-स्वभाव और उपचरितस्वभाव – ये विशेष स्वभाव हैं। (पृष्ठ ६६)

४१. **द्रव्य, अपने स्वरूप-लाभ से कभी च्युत नहीं होता – ऐसा 'अस्तित्वस्वभाव' कहा जाता है।** (पृष्ठ ६६)

४२. द्रव्य, पारिणामिक-स्वभाव की प्रधानता होने के कारण **परमस्वभाववाला** है। (पृष्ठ ६७)

४३. **स्वभाव से अन्यथा परिणमन करना 'विभाव' है। केवल अमिलित अर्थात् मिलावट रहित भाव को 'शुद्धभाव' कहते हैं, उससे विपरीत भाव को 'अशुद्धभाव' कहते हैं।** (पृष्ठ ६६)

४४. स्वभावों का भी अन्यत्र उपचार करने से उपचरित स्वभाव-पना होता है। वे दो प्रकार के होते हैं – १. कर्मज और २. स्वभाविक। जैसे – संसारी जीवों के मूर्तत्व एवं अचेतनत्व आदि कर्मोदयजनित होने से **कर्मज उपचरित स्वभाव** हैं तथा सिद्धों के परज्ञता और पर-दर्शनत्व आदि **स्वाभाविक उपचरित स्वभाव** हैं। (पृष्ठ ६८)

४५. **नयों में स्वभावों की योजना – स्वद्रव्यादि ग्राहक नय की अपेक्षा 'अस्तिस्वभाव' है। (परद्रव्यादि ग्राहक नय की अपेक्षा 'नास्तिस्वभाव' है।)**

भेदकल्पना-निरपेक्ष नय की अपेक्षा **'एकस्वभाव'** है। भेद-कल्पना-सापेक्ष अन्वयद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा एक द्रव्य में भी **'अनेक द्रव्यस्वभावपना'** है। सद्भूतव्यवहार नय से गुण-गुणी में **'भेदस्वभाव'** है। भेदकल्पना-निरपेक्ष नय से गुण-गुणी का **'अभेदस्वभाव'** है।

परमभाव ग्राहक नय से 'भव्य-अभव्य पारिणामिकस्वभाव' है।शुद्ध, अशुद्ध और परमभाव ग्राहक नय से जीव का तथा असद्भूत-व्यवहारनय से कर्म-नोकर्म का भी 'चेतनस्वभाव' है। परमभाव

ग्राहक नय की अपेक्षा कर्म-नोकर्म का तथा असद्भूत -व्यवहारनय से जीव का भी 'अचेतनस्वभाव' है। परमभाव ग्राहक नय की अपेक्षा कर्म-नोकर्म का तथा असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा जीव का भी 'मूर्तस्वभाव' है। परमभाव ग्राहक नय की अपेक्षा पुद्गल को छोड़कर बाकी सभी द्रव्यों का 'अमूर्तस्वभाव' है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन चार द्रव्यों का **उपचार से भी चेतनत्व और मूर्तत्व स्वभाव नहीं** है। परमभाव ग्राहक नय की अपेक्षा कालद्रव्य और पुद्गलाणु का **'एकप्रदेशस्वभाव'** है। जबकि भेदकल्पना-निरपेक्ष नय से अन्य द्रव्यों का भी **'एकप्रदेश-स्वभाव'** है। भेदकल्पना-सापेक्ष नय से जीव, धर्म, अधर्म और आकाश – इन चार द्रव्यों का **'बहुप्रदेशस्वभाव'** है तथा पुद्गलाणु का उपचार से **'बहुप्रदेशस्वभाव'** है।

शुद्धाशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से 'विभावस्वभाव' है। शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय से 'शुद्धस्वभाव' है। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से 'अशुद्ध-स्वभाव' है। असद्भूत व्यवहार नय से 'उपचरितस्वभाव' है।

(पृष्ठ ७०-७३)

४६. दुर्नय-एकान्त में आरूढ़ भाव से स्व-अर्थ की सिद्धि-दायक हितकारी भाव नहीं होते, लेकिन दुर्नय-एकान्त से विपरीत सुनय-एकान्त में आरूढ़ भाव, स्व-अर्थ की सिद्धिदायक तथा निष्कलंक होते हैं। (पृष्ठ ७३)

४७. **प्रमाण के द्वारा अनेकस्वभावों से युक्त द्रव्य को जानकर, उसी की सापेक्ष सिद्धि करने के लिए नयों की योजना करनी चाहिए।**

(पृष्ठ ७८)

४८. द्रव्य को कथंचित् अस्ति-नास्तिरूप मानना निर्दोष ही है, क्योंकि तभी अर्थक्रियाकारित्व सम्भव होता है। इसी प्रकार द्रव्य

को कथंचित् नित्यानित्यात्मक मानने पर ही अर्थक्रिया संभव होती है। (पृष्ठ ७९)

४९. **जिस प्रकार द्रव्यस्वरूप की अपेक्षा नित्यपना है, उसी प्रकार पर्यायस्वरूप की अपेक्षा भी नित्यपना न हो; अतः कथंचित् शब्द का प्रयोग किया गया है।** (पृष्ठ ८०)

५०. जिस प्रकार सद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा भेद है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा भेद न हो; अत: **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया गया है। (पृष्ठ ८२)

५१. **अपनी पर्यायरूप परिणमन करना ही भव्यस्वभाव का फल है तथा परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमन का त्याग करना ही अभव्यस्वभाव का फल है।** (पृष्ठ ८४)

५२. चेतनस्वभाव के कारण कर्मों का ग्रहण या त्याग, उसका फल है तथा अचेतनस्वभाव के कारण केवल कर्मों का ग्रहण ही होता है। (पृष्ठ ८६)

५३. **जिस प्रकार भेदकल्पना निरपेक्षनय से एकप्रदेशीपना है, उस प्रकार व्यवहारनय की अपेक्षा भी एकप्रदेशीपना न हो; अतः 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग किया गया है।** (पृष्ठ ८७)

५४. निश्चय के साथ एकत्व का समर्थन करना, एकप्रदेशीपने का फल है तथा अनेक कार्यों को करना, अनेक-प्रदेशीपने का फल है। (पृष्ठ ८८)

५५. **स्वभाव की प्राप्ति होना, शुद्धपने का फल है तथा स्वभाव की प्राप्ति न होना, अशुद्धपने का फल है।** (पृष्ठ ८९)

५६. स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार होने से उपचरितस्वभाव है, उस प्रकार अनुपचार की अपेक्षा उपचार हो; अत: **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया है। (पृष्ठ ८९-९०)

५७. **परज्ञता आदि उपचरितस्वभाव के फल हैं तथा परज्ञता आदि से विपरीत आत्मज्ञता आदि अनुपचरितस्वभाव के फल हैं।** (पृष्ठ ९०)

५८. आत्मा, अपने-अपने बन्ध और मोक्ष के कारण-कलापों के कारण बँधता है और मुक्त होता है अर्थात् अशुद्धभावों से बँधता है और शुद्धभावों से मुक्त होता है। (पृष्ठ ९०)

५९. **आत्मा का स्वभाव शुद्धपारिणामिकभाव है। इस शुद्ध-स्वभाव के सेवन से जीव मुक्त होता है तथा अशुद्ध-स्वभाव के सेवन से बँधता है; अतः शुद्धता और अशुद्धता, दोनों ही विकल्प आराध्य नहीं हैं, केवल पारमार्थिकभाव (पारिणामिकभाव) ही आराध्य है।** (पृष्ठ ९०)

६०. जो वस्तु व्यवहारनय की अपेक्षा खण्डित है, अनेकरूप हैं एवं उपचरित हैं; वही निश्चयनय की अपेक्षा अखण्डित हैं, एक हैं, अनुपचरित हैं एवं अनादिनिधन हैं; वही उभयनयों की अपेक्षा उभयात्मक है तथा वही उभयनयों के विकल्प से रहित होने से अनुभयस्वरूप है। इस प्रकार वस्तु, व्यवहार दृष्टि से आलिंगित होने से पर-सापेक्ष या परस्पर सापेक्ष है तथा परस्पर सापेक्ष होने से अनुभयस्वरूप का भी व्यवहारपना है। (पृष्ठ ९१)

६१. **जो एकभाव वाला है, वह सर्वभाव के स्वभाव वाला है; तथा जो सर्वभाव हैं, वे एकभाव के स्वभावमय हैं; अतः जिसने वास्तविकरूप से एकभाव को जान लिया, उसने वास्तव में सर्व भावों को जान लिया।..... व्यवहार-पदवी अर्थात् विकल्पात्मक दशा में व्यवहार नय से प्रतिपादित पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ ही श्रद्धेयरूप से उपादेय हैं, समर्थित हैं।** (पृष्ठ ९२)

६२. दर्शन के पूर्व ज्ञान होता है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के कारण ही

श्रद्धा उत्पन्न होती है, तभी मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। (पृष्ठ ९३)

६३. **जब यह आत्मा, व्यवहारनय से आलिंगित होने पर व्यवहारात्मक होता है; इस व्यवहार का निश्चय श्रुत के प्रति साधकपना ही उसका व्यवहारभावपना है। ..... जब वह अपने अनेकत्व को छोड़कर अपने एकत्व स्वभाव में प्रवर्तता है, तभी उसका साधकपना है। ..... जब यह आत्मा, निश्चयात्मक होता है अर्थात् निश्चय नय से आलिंगित होता है, इस निश्चय नय का ही निश्चय श्रुत के रूप में कथन किया गया है; अतः इस निश्चय श्रुत से जाना गया आत्मा ही समयसार कहलाता है।** (पृष्ठ ९३)

६४. समयसार की व्युत्पत्ति इस प्रकार है – समान या साधारण, क्षायोपशमिक या क्षायिक ज्ञानवाला यह आत्मा ही **समय** कहलाता है। जब यह आत्मा, सम्यक् निश्चयस्वरूप वीतरागभाव से परिणत होता है; तब वही **समयसार** कहलाता है। (पृष्ठ ९४)

६५. **कर्मजभावों से अतीत ज्ञायकभाव है। उसी की अनुभूति निश्चय दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन है।** (पृष्ठ ९४)

६६. परमतत्त्व के सेवन करने से तथा प्रारब्ध आदि के योग से सुख, ज्ञान, ध्यान, ऋद्धि आदि कारणों की प्राप्ति होती है। (पृष्ठ ९५)

६७. **सर्व प्रथम उस परमतत्त्व की बार-बार चिन्तारूप संवित्ति होती है, फिर तत्त्व-चिन्तारूप सन्तान-संवित्ति होती है, तत्पश्चात् अनुभूति -स्वरूप सन्तान-संवित्ति उत्पन्न होती है, उसके बाद आनन्द अर्थात् परमानन्द उत्पन्न होता है। वह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की होता है।** (पृष्ठ ९५)

६८. जब अशुभराग आदि बाह्य विनोद से वीतरागी होकर, भूतार्थ से जाने गये समयसारस्वरूप ज्ञानसूर्य के प्रताप व प्रकाश के

द्वारा महाविभ्रमरूप मोहान्धकार का अभाव होता है, तब वही प्रारब्ध-योगी उसी समय आत्मा के ज्ञानानन्द-स्वभाव को अनवरत स्वसंवित्ति के द्वारा अनुभवन करते हुए विकल्प का त्याग करता है। (पृष्ठ ९६)

६९. **जिस प्रकार सम्यक् व्यवहार से मिथ्या व्यवहार का निराकरण होता है; उसी प्रकार निश्चय के द्वारा व्यवहार का विकल्प भी निवृत्त होता है। जिस प्रकार निश्चयनय द्वारा व्यवहार का विकल्प निवृत्त होता है; उसी प्रकार स्वपर्यवसित स्वभाव (परम निरपेक्ष स्वाश्रित स्वभाव) के अवलम्बन से एकत्व का विकल्प भी छूट जाता है।** (पृष्ठ ९७)

७०. इस प्रकार **जीव का जो स्वपर्यवसित स्वभाव** है, वही **नयपक्षातीत** है। (पृष्ठ ९७)

इस प्रकार इस ग्रन्थ के अनेकों मौलिक प्रकरण मूलतः पठनीय हैं। जिनका समग्र आगम के आलोक में बारम्बार अध्ययन-मनन-चिन्तन एवं गहराई से विचार करना अनिवार्य है।

अनेक प्रकरण ऐसे हैं, जिन पर लेखक / सम्पादक को कुछ लिखना अभीष्ट था, परन्तु लेख के विस्तृत होने के भय एवं स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से भी लेख को विराम दिया है। निष्कर्षरूप में यह अध्यात्म का पोषक, जिनागम का विशिष्ट प्रकरण ग्रन्थ है।

आशा है – समग्र समाज के अध्ययनशील जागरूक अध्येता, इस ग्रन्थ का अध्ययन कर आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होंगे – इसी विश्वास के साथ विराम लेते हैं।

– डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

प्रस्तावना

हेलोल्लुप्तमहामोह-तमस्तोमं जयत्यदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः।।

'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' - यह एक ऐसा अलौकिक लघु-काय गद्य-पद्यात्मक चम्पू ग्रन्थरत्न है, जो संक्षेप में आगम-अध्यात्म के समस्त रहस्यों को नयों के विवेचन द्वारा सरलता से समझा देने में समर्थ है। यह श्रीमद् देवसेनाचार्यजी (ई. ९३३-९५५) द्वारा **समयसार** की नयों से सम्बन्धित तीन गाथाओं (११वीं, १२वीं और १४३वीं) को आधार बनाकर लिखा गया है।

'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' के रचयिता आचार्यश्री माइल्ल धवल (ई. ११३६-१२४३ लगभग) ने अन्तिम तीन (४२३-४२५) गाथाओं में सम्भवतया इस ग्रन्थ को आधार बनाकर कहा है -

''स्यात् शब्द से युक्त सुनय के द्वारा दुर्नयरूपी दैत्य के शरीर को विदारण करने में एकमात्र श्रेष्ठ वीर नयचक्र के कर्ता उन देवसेन नामक गुरुदेव को नमस्कार करो।। ४२३।।

जो 'द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश' दोहाओं में रचा हुआ देखा गया, माइल्ल धवल ने उसे गाथाबद्ध किया।। ४२४।।

जैसे, अनुकूल वायु के द्वारा प्रेरित हुआ जहाज तैरने में समर्थ होता है, वैसे ही श्री देवसेन मुनि ने नयचक्र को पुनः रचा।। ४२५।।''

उपर्युक्त गाथाओं में श्री माइल्ल धवल ने नयचक्र के कर्ता श्री देवसेन को 'गुरुदेव' तथा 'मुनि' शब्द से उल्लिखित किया है। इससे विदित होता है कि देवसेनाचार्य, उनके परम्परा गुरु थे; साक्षात् गुरु नहीं थे। यद्यपि श्री देवसेन नाम के अनेक दिगम्बर जैनाचार्य हो गये हैं, तथापि प्रकृत (विवेच्य) श्रुतभवनदीपक नयचक्र के रचयिता वे ही देवसेन

आचार्य हैं, जिन्होंने दर्शनसार, आलापपद्धति, आराधनासार आदि ग्रन्थों की रचना की है।

इनमें से दर्शनसार में मिथ्या मतों एवं जैनाभासों का वर्णन है; आलापपद्धति, प्रमाण-नय-विषयक सूत्र ग्रन्थ है; आराधनासार चतुर्विध-आराधना-विषयक संस्कृत ग्रन्थ है। तथा भावसंग्रह, तत्त्वसार भी इन्हीं देवसेनाचार्य की रचनाएँ हैं।

प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण-धर्मात्मक होने से 'अनेकान्तात्मक' है और वस्तु के इस अनेकान्तस्वरूप को समझानेवाली सापेक्ष कथनपद्धति को 'स्याद्वाद' कहते हैं।

''स्याद्वाद, समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला अरहन्त-सर्वज्ञ का अस्खलित निर्बाध शासन है। स्याद्वाद कहता है कि अनेकान्त-स्वभाववाली होने से सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं।...... जो वस्तु तत् है, वही अतत् है; जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है; इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशित होना, अनेकान्त है।''

(समयसार परिशिष्ट, स्याद्वाद अधिकार)

'सर्वथा' एकान्त का त्याग करके 'कथंचित्' का विधान करने का नाम 'स्याद्वाद' है। वह सात भंगों और नयों की अपेक्षा रखता है तथा हेय और उपादेय के भेद को भी बतलाता है। (आप्तमीमांसा, कारिका १०४)

अनेकान्त शब्द में 'अनेक' का अर्थ है - 'एक से अधिक' अर्थात् दो से लेकर अनन्त तक की संख्या। तथा 'अन्त' का अर्थ है - धर्म और गुण। जहाँ 'अनेक' का अर्थ 'दो' लिया जाएगा, वहाँ 'अन्त' का अर्थ 'धर्म-युगल' होगा और जहाँ 'अनेक' का अर्थ 'अनन्त' लिया जाएगा, वहाँ 'अन्त' का अर्थ 'गुण' होगा।

इस प्रकार गुणों के अर्थ में अनन्त गुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है तथा धर्म-युगलों के अर्थ में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना 'अनेकान्त' है। इसमें ध्यान रखने योग्य बात यह है

कि 'स्यात्कार' (कथंचित् या अपेक्षा) का प्रयोग धर्मों में होता है, अथवा हो सकता है, किन्तु गुणों में नहीं; अत: स्यात्कार का प्रयोग सर्वत्र, सदैव धर्म-युगलों (धर्मों) में ही किया जाता है। कहीं भी, कभी भी अनुजीवी गुणों के साथ नहीं।

यद्यपि धर्म, गुण, शक्ति आदि एकार्थवाची जैसे लगते हैं, बोले जाते हैं; तथापि गुण और धर्म में कुछ अन्तर भी है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण भी कहते हैं और धर्म भी कहते हैं। इसी प्रकार पर्यायों में व्यक्त होनेवाली गुणों की सामर्थ्य को भी शक्ति कहते हैं। जैसे, क्षायोपशमिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और क्षायिक केवलज्ञान पर्यायों की वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम या क्षय के निमित्त से अपने-अपने ज्ञेयों को सीमित और असीमितरूप से जानने की सामर्थ्य -रूप पर्यायगत शक्तियाँ।

तथा जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं। जैसे, नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, सत्-असत्, तत्-अतत्, इत्यादि। इन सापेक्ष धर्मों की पर्यायें (उत्पाद-व्ययरूप परिणमन) नहीं होती हैं, क्योंकि धर्म तो धर्मरूप ही रहते हैं।

गुणों की पर्यायें होती है; वहाँ जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं। जैसे, आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि और पुद्‌गल के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इत्यादि। इन गुणों की पर्यायें (उत्पाद-व्ययरूप परिणमन) प्रतिसमय होती ही होती है।

एक वस्तु में गुणों की सत्ता / विद्यमानता एकसाथ सभी जैन-जैनेतर विद्वान् स्वीकार करते हैं, परन्तु परस्पर विरोधी धर्म-युगलों की सत्ता को स्याद्वादी जैनी ही स्वीकार करते हैं, जैनेतर तो किसी एक धर्म / पक्ष को पकड़कर पक्षपाती (सांख्य, बौद्ध आदि) हो जाते हैं; अत: अनेकान्त/स्याद्वाद में परस्पर विरुद्ध धर्म/शक्तियों के प्रकाशन/विवेचन पर सर्वाधिक जोर दिया गया है, क्योंकि वह वस्तु का सहज स्वभाव है। शब्दों की शक्ति सीमित होने से वस्तु में विद्यमान अनन्त गुण व धर्मों का

युगपत् कह सकना शक्य न होने से उन्हें क्रम-क्रम से ही प्रतिपादित किया जाता है।

जब जिस गुण / धर्म का कथन / प्रतिपादन मुख्य किया जा रहा हो तब अन्य गुणों / धर्मों की गौणता रहती है, उनका निषेध नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उनके सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा रहा है। मुख्य-गौण की विवक्षा कथन / प्रतिपादन में होती ही है, जो वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करती है। वस्तु में तो सभी गुण / धर्म एकसाथ ही विद्यमान रहते हैं।

जगत् के सभी द्रव्य / पदार्थ / वस्तुएँ स्वत:सिद्ध / स्वभावसिद्ध हैं, क्योंकि वे अनादिनिधन हैं, अकृत्रिम हैं, किसी काल्पनिक ईश्वर की रचना नहीं है। जिसकी आदि (प्रारम्भ) नहीं और अन्त (नाश) नहीं - ऐसे अनादिनिधन सभी जीव या द्रव्य अपनी सत्ता एवं अर्थक्रिया के लिए साधनान्तर की अपेक्षा नहीं रखते। वे अपने-अपने गुण-पर्यायात्मक स्वभाव को, जो कि मूल साधन है, उसे धारण करके स्वयमेव सिद्ध हुए वर्तते रहते हैं।

द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती, उनके गुण-धर्मों का अन्योन्य-प्रवेश (interchangibility) नहीं होता; जीव (चेतन) द्रव्य बदलकर अजीव (जड़) द्रव्य, अथवा अजीव (जड़) द्रव्य बदलकर जीव (चेतन) द्रव्य हो जाए - ऐसा त्रिकाल में कभी भी नहीं होता।

किसी भी प्ररूपणा में 'ही' या 'भी' शब्दों के प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। 'भी' और 'ही' शब्दों के प्रयोग कब, कहाँ, कितना, किस रूप में किया जाए या किया जाता है; उसका विवेक अवश्य ही होना चाहिए। जहाँ 'भी' अनुक्त की सत्ता का सूचक है तो 'ही' दृढ़ता का सूचक। 'भी' के प्रयोग में समन्वय की और 'ही' के प्रयोग में आग्रह की बू (गन्ध) नहीं होना चाहिए।

आजकल के कुछ समन्वयवादी 'यह धर्म भी ठीक/सही है और वह धर्म भी ठीक है' - इस प्रकार 'भी' का गलत प्रयोग करते देखे जा सकते हैं, जबकि 'भी' लगाने या बोलने का प्रयोजन तो यह है कि हम

जो कह रहे हैं, वस्तु मात्र उतनी ही नहीं है, अन्य भी है। इसी तरह 'ही' (जो दृढ़ता का सूचक है, न कि आग्रह का) वह बतलाता है कि अन्य दृष्टिकोणों से देखने पर वस्तु और भी बहुत कुछ है, परन्तु जिस कोण से यह बात कही गई है या कही जा रही है, वह उस कोण विशेष से ठीक वैसी ही है, उसमें शंका की गुंजाइश नहीं है।

इस तरह ये दोनों ('भी' और 'ही') शब्दों के प्रयोग एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि पूरक हैं। 'ही' अपने विषय में अन्य शंकाओं का निरसन कर दृढ़ता प्रदान करता है और 'भी' वस्तु के अन्य पक्षों की संभावना से इंकार न करता हुआ, उनके बारे में चुप रहकर भी वस्तु की स्वरूपसत्ता को सुनिश्चितता प्रदान करता है। स्याद्वाद, संभावनावाद नहीं, निश्चयात्मक / निर्णयात्मक होने से प्रमाण है।

प्रमाणवाक्य में मात्र 'स्यात्' पद का प्रयोग होता है, किन्तु नयवाक्य में 'स्यात्' पद के साथ 'एव' (ही) का प्रयोग भी होता है – इसका प्रयोग आवश्यक भी है, क्योंकि 'एव' (ही) सम्यक् एकान्त का सूचक है तथा 'भी' सम्यक् अनेकान्त का सूचक है। जैनदर्शन कहो या अनेकान्तवादी दर्शन कहो – एक ही बात है।

जैनदर्शन ने 'अनेकान्त में भी अनेकान्त' (**अनेकान्तोप्यनेकान्तः** – स्वयंभूस्तोत्र, १०३) का स्वीकार किया है अर्थात् वस्तुतः जैनदर्शन न तो सर्वथा एकान्तवादी है और न सर्वथा अनेकान्तवादी, वह तो कथंचित् एकान्तवादी है और कथंचित् अनेकान्तवादी; इसी को 'अनेकान्त में अनेकान्त' भी कहते हैं। ये एकान्त और अनेकान्त भी सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं – सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त; तथा सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। निरपेक्षनय मिथ्या-एकान्त-स्वरूप होते हैं और सापेक्षनय सम्यक्-एकान्त-स्वरूप। सापेक्षनयों का समूह सम्यक् अनेकान्तस्वरूप श्रुत-प्रमाणरूप है और निरपेक्षनयों का समूह मिथ्या अनेकान्तस्वरूप प्रमाणाभासरूप होता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा भी है – जो वस्तु अनेकान्तरूप है, वही

सापेक्षदृष्टि से एकान्तरूप भी है। प्रमाणज्ञान की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और नयों की अपेक्षा एकान्तरूप है।

यद्यपि वस्तु का स्वभाव निरपेक्ष ही होता है; तर्कातीत-नयविकल्पातीत ही होता है; तथापि बिना अपेक्षा लगाये वस्तु का यथार्थ स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसी कारण सम्यक् एकान्तस्वरूप नय कहलाता है और सम्यक् अनेकान्तस्वरूप प्रमाण कहलाता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २ में कहा है – परमागम के बीजस्वरूप (जीवभूत) अनेकान्त में सम्पूर्ण नयों (सम्यक् एकान्तों) का विलास / प्रकाश होता है, जिसमें समस्त एकान्तों के विरोध को समाप्त करने की सामर्थ्य है।

जैसे, अनेक जन्मान्ध व्यक्ति एक हाथी को छूकर जानने का यत्न करते हैं और फिर परस्पर हाथी कैसा है? – यह बतलाने लगते हैं। जिसने हाथी का पैर छुआ, उसे हाथी खम्भे (स्तम्भ) के समान, जिसने हाथी का पेट छुआ, उसे हाथी दीवाल के समान, जिसने हाथी का कान छुआ, उसे हाथी सूप के समान, जिसने हाथी की पूँछ पकड़ी, उसे हाथी रस्सी के समान, जिसने हाथी की सूंड पकड़ी, उसे हाथी केले के स्तम्भ-समान जान पड़ता है, इस कारण वे वैसा ही बतलाते हैं; परन्तु उनका ऐसा कहना सम्पूर्ण हाथी के बारे में सही नहीं होगा, क्योंकि वे जान रहे हैं हाथी के एकांश को और मान रहे हैं सर्वांश हाथी को।

यदि एकांश को सर्वांश माना जाएगा तो वह गलत ही होगा, परन्तु यदि एकांश को एकांश ही माना जाए तो वह गलत नहीं होगा; क्योंकि जैसे, खुले हुए स्वस्थ नेत्रवाला व्यक्ति हाथी को देखता है तो वह सर्व एकांशों की समग्रतारूप सर्वांशों की एकता को एक ही हाथी जानता है और 'स्यात्' पद के प्रयोग से उन जन्मान्ध व्यक्तियों के कथन को किसी अपेक्षा से उनका एकांशरूप एकान्त का जानना भी सत्य है – ऐसा जानता है, परन्तु हाथी सर्वथा उतने मात्र ही नहीं है, कथंचित् किसी अपेक्षा से

हाथी ऐसा है और अन्य अपेक्षाओं से हाथी वैसा भी है; अत: अंश के बारे में 'भी' लगाना आवश्यक हो गया।

इस प्रकार यदि अपेक्षा विशेष (नय) को स्पष्ट कर दिया जाए तो 'ही' लगाना गलत नहीं है, बल्कि उस स्थिति में 'ही' लगाया जाना भी आवश्यक है; यद्यपि पूर्ण (प्रमाण) के बारे में वह 'ही' आंशिक सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं; अत: 'भी' लगाना भी जरूरी है।

वस्तु में जो परस्पर विरोधी नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मयुगल कहे गये हैं, वे सभी संभाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही होते हैं, असंभाव्यमान नहीं; अन्यथा चेतनत्व-अचेतनत्व, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मों की संभावना का प्रसंग आएगा, उन से इन्कार नहीं किया जा सकेगा।

वस्तुत: सर्वथा या सम्पूर्णत: परस्पर विरोधी धर्म आत्मा में नहीं रहते हैं। अनेकान्त तो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का (seemingly contradictory traits) ही प्रकाशन करता है, न कि सम्पूर्णतया सर्वथा विरोधी धर्मों का।

अत: सावधान करते हुए आचार्यों ने नयचक्र में कहा है – "जिस व्यक्ति को स्याद्वादरूपी जिनवरकथित नयचक्र, सही समझ व सावधानी पूर्वक चलाना नहीं आता, वह इन्द्रजाल के समान उस नयचक्र से स्वयं का मस्तक खण्डित कर लेता है; इसलिए इसे चलाने से पूर्व नयचक्र चलाने में प्रवीण ज्ञानी गुरुओं की शरण लेना चाहिए, उनके मार्गदर्शन अनुसार जिनवाणी का मर्म समझना चाहिए। स्याद्वाद, संशयवाद या कल्पित संभावनावाद या अनिश्चयवाद नहीं है। स्याद्वाद या स्याद्वादी, जो कुछ भी कहता है, उसे दृढ़ता के साथ कहता है, कोई कल्पना नहीं करता।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है –

प्रमाण-नयैरधिगमः। (– तत्त्वार्थसूत्र १/६)

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वों का ज्ञान, प्रमाण-नयरूपी साधनों के द्वारा होता है।

सम्यग्ज्ञान (संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित ज्ञान) को 'प्रमाण' कहते हैं; यह 'प्रमाण', वस्तु के सर्वदेश को (सभी पहलुओं सहित अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, अन्वय-व्यतिरेकात्मक, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को) ग्रहण करता है, जानता है।

प्रमाण द्वारा निर्णीत/निश्चित हुई अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एकदेश को जो ज्ञान जानता है, मुख्यता से ग्रहण करता है; उसे 'नय' कहते हैं।

वस्तु में धर्मरूप अंश अनन्त होते हैं, अत: उनके ज्ञानरूप नयात्मक अंश भी अनन्त हो सकते हैं, श्रुतज्ञान में ही नयरूप अंश होते हैं। इस कारण श्रुतप्रमाण के विकल्प, भेद या अंश को 'नय' कहते हैं; अत: नय, श्रुतज्ञान-प्रमाण सापेक्ष ही होता है; शेष चार ज्ञानों (मति-अवधि-मन:पर्यय-केवलज्ञान) में नय नहीं होते। प्रमाण और नय को मिलाकर 'युक्ति' कहते हैं। वस्तु की एकदेश-परीक्षा 'नय का लक्षण' है।

आगम-विवक्षा में वस्तु के सामान्यांश को ग्रहण करनेवाला 'द्रव्यार्थिकनय' और विशेषांश को ग्रहण करनेवाला 'पर्यायार्थिकनय' कहलाता है।

गुणों का अन्तर्भाव द्रव्य-पर्याय में से किसी न किसी में हो जाता है, अत: उसे ग्रहण करनेवाला पृथक् नय नहीं माना गया है। गुण, द्रव्य का ही स्वरूप होने से उनका अभेदरूप से अन्तर्भाव द्रव्यार्थिकनय में तथा वे भेदस्वरूप होने से उनके भेदों का अन्तर्भाव पर्यायार्थिकनय में होता है।

इस प्रकार प्रमाण का विषय सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होने से उसे अनेकान्तग्राही, सकलादेशी, सर्वांशग्राही, सकलवस्तुग्राहक एवं सर्व-नयात्मक माना है, जबकि नय का विषय अंशग्राही होने से उसे एकान्तग्राही, विकलादेशी, एकांशग्राही और एकनयात्मक माना है।

अध्यात्म-विवक्षा में नयों के दो मूल भेद माने गये हैं – निश्चयनय और व्यवहारनय। इस सम्बन्ध में आलापपद्धति (गाथा ३) एवं द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र (गाथा १८२) में एक गाथा आती है –

णिच्छयववहारणया, मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ, दव्वत्थपज्जयत्थिया मुणह।।

अर्थात् सर्व नयों के मूल निश्चय और व्यवहार – ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक – ये दोनों निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं।

(परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ३४)

अन्यत्र इस गाथा का अन्य प्रकार से भी अर्थ किया गया है –

१. सब नयों के मूलभूत भेद निश्चयनय और व्यवहारनय हैं। निश्चय के साधन में हेतु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय हैं – ऐसा जानो।

(द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १८२, पृष्ठ १०४)

२. सम्पूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय – ये दो मूल भेद हैं। निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिकनय है और साधन का हेतु अर्थात् व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिकनय है।

(आलापपद्धति, पृष्ठ ९३ एवं और देखें –
'व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात् .... निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्
अर्थात् व्यवहारनय तो पर्यायाश्रित है और निश्चयनय द्रव्याश्रित है।
– समयसार गाथा ५६ की टीका)

३. सभी नयों के मूलभूत भेद दो हैं – निश्चयनय और व्यवहारनय। इनमें निश्चय-व्यवहार दोनों के हेतु द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय दोनों हैं। अर्थात् निश्चयनय के हेतु भी द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों नय हैं और व्यवहारनय के हेतु भी द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों नय हैं; क्योंकि सर्वत्र अध्यात्म का हेतु आगम है।

नयों की कथंचित् हेयोपादेयता

समयसार गाथा १४२ में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है –

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो।।

अर्थात् 'जीव में कर्म बँधे हैं अथवा नहीं बँधे हैं'; इस प्रकार ये दोनों नयपक्ष हैं तथा जो पक्ष से अतिक्रान्त (नयपक्ष का उल्लंघन करनेवाला) है, वह समयसार है (अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व अथवा उसकी अनुभूति करनेवाला) है।

इस गाथा की आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका (हिन्दी अनुवाद) में आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं –

''वास्तव में 'जीव में कर्म बँधे हैं' - ऐसा कहना तथा 'जीव में कर्म नहीं बँधे हैं' - ऐसा कहना; इस प्रकार ये दोनों विकल्प हैं, ये दोनों ही नयपक्ष हैं।

जो इन नयपक्षों के विकल्पों का उल्लंघन करता है, छोड़ता है; वही समस्त विकल्पों से दूरवर्ती होता है अर्थात् वह स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघन स्वभावरूप होकर सम्यक् प्रकार से साक्षात् समयसार होता है।

प्रथम तो जो 'जीव में कर्म बँधे हैं' - ऐसा विकल्प करता है, वह 'जीव में कर्म नहीं बँधे हैं' - ऐसे पक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता है तथा जो 'जीव में कर्म नहीं बँधे हैं' - ऐसा विकल्प करता है, वह भी 'जीव में कर्म बँधा है' - ऐसे अन्यपक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता है तथा जो 'जीव में कर्म बँधे भी हैं और नहीं भी बँधे हैं' - ऐसा विकल्प करता है, वह उन दोनों ही पक्षों को न छोड़ता हुआ, विकल्प को नहीं छोड़ता है; इसलिए जो समस्त ही नयपक्ष को छोड़ता है, वही समस्त विकल्पों को छोड़ता है और वही समयसार (शुद्ध आत्मा) का अनुभव करता है।''

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने इस गाथा का सार आत्मख्याति टीकानुसार **भावार्थ** लिखकर किया है, वह इस प्रकार है –

''जीव, कर्मों से बँधा है' तथा 'जीव, कर्मों से नहीं बँधा है' - ये दोनों नयपक्ष हैं; उनमें से 'किसी ने बन्धपक्ष पकड़ा', उसने विकल्प ही पकड़ा; 'किसी ने अबन्धपक्ष पकड़ा', उसने भी विकल्प ही पकड़ा तथा

'किसी ने दोनों पक्ष पकड़े', उसने भी पक्ष ही का विकल्प किया; इसलिए [सब] विकल्पों को छोड़ कर, जो किसी भी पक्ष को नहीं पकड़ता है, वह शुद्धपदार्थ का स्वरूप जान कर उसरूप होता हुआ, समयसारस्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। नयों के पक्ष को पकड़ना राग है, अतः समस्त नयपक्षों को छोड़ने पर ही वीतराग समयसार होता है।''

इसी गाथा की आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है –

''व्यवहार से जीव बद्ध है' – ऐसा नयविकल्प शुद्धजीवस्वरूप नहीं है और 'निश्चय से जीव अबद्ध है' – ऐसा नयविकल्प भी शुद्धजीव-स्वरूप नहीं है तथा 'निश्चय-व्यवहार से जीव अबद्ध है या बद्ध है' – ऐसा वचन-विकल्प भी शुद्धजीवस्वरूप नहीं है।

यहाँ पूछते हैं – किस कारण से विकल्प शुद्धजीवस्वरूप नहीं है?

उसका उत्तर – '**श्रुतविकल्पाः नयाः**' अर्थात् श्रुतविकल्प ही नय है – ऐसा आगमवचन है। तथा श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है; क्षायोपशम ज्ञान, ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। यद्यपि व्यवहारनय से छद्मस्थ की अपेक्षा वह जीवस्वरूप कहा जाता है, तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा वह जीवस्वरूप नहीं है।

तो फिर जीव का स्वरूप कैसा है? – जो नयपक्षपात रहित स्व-संवेदनज्ञानी हैं, उनके अभिप्राय से बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़ आदि नय-विकल्परहित चिदानन्द एक स्वभाव जीव का स्वरूप है।''

जैसा कि आत्मख्याति कलश ६९ में कहा है –

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।

अर्थात् जो नयपक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त रहकर सदा निवास करते हैं तथा जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हो गया है – ऐसे होते हुए वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

यही बात इस श्रुतभवनदीपक नयचक्र में श्रीमद् देवसेनाचार्यदेव ने प्रगट की है – '**प्रत्यक्षानुभूतिः नयपक्षातीता**' अर्थात् प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत है।

इस सन्दर्भ में इस लघुकाय ग्रन्थ को समयसारादि महान अध्यात्म ग्रन्थों के आध्यात्मिक रहस्यमयी तालों (locks) को खोलने की चाबी (key) कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है; इसी कारण आचार्यदेव ने स्वयं ग्रन्थ के प्रारम्भ में समयसार की प्राणभूत ११वीं, १२वीं और १४३वीं गाथाओं को प्रस्तुत करके उनके भावार्थ विचार करते हुए ग्रन्थ की रचना की है।

इस ग्रन्थ में तीन अध्याय हैं – श्रुतभवन में प्रवेश पाने की भूमिका स्वरूप 'प्रथम अध्याय' है, जिसमें चैतन्य-सदन में प्रवेश कराने के लिए तथा इस नयचक्र को प्रकाशमान करने के उद्देश्य से असत् कल्पनाओं के निवारणार्थ '**निश्चयशुद्धि का वर्णन**' किया गया है; इसमें वे कहते हैं –

''सभी जीव स्व-स्वभाव से नयपक्षातीत हैं; क्योंकि सभी सिद्ध-स्वभाव के समान स्वपर्यवसित स्वभाव वाले हैं। ...... सहज पारिणामिक ज्ञायकस्वभाववाला जीव, अनादि-अनिधन, स्व-स्वभावरूप सम्पूर्ण अकारणक, स्वसंवेद्य तथा स्वानुभूति द्वारा प्रकाशमान है – **ऐसा ही जीव का स्वपर्यवसित स्वभाव है।**

यह जीव का स्वपर्यवसितस्वभाव कारणान्तरों के द्वारा उत्पन्न होकर प्रगट होनेवाले अनादि क्षायोपशमिक ज्ञान से निवृत्त, सादि-अनन्त क्षायिकज्ञानरूप प्रवृत्त तथा औपशमिक एवं औदयिक भावों से असम्बद्ध (अनालीढ़) होने से सहज पारिणामिक ज्ञायकस्वभाव ही है, जो अनाद्यनन्त, अकारणक, स्वसंवेद्यमान, स्वानुभूति से प्रकाशित है।

यद्यपि आत्मा, स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह नयों के बिना नयपक्षातीत नहीं हो सकता है क्योंकि अनादि कर्म के वश से यह जीव असत्कल्पना वाला है। ..... जब तक यह आत्मा, व्यवहारनय और निश्चयनय – इन नयों के माध्यम से तत्त्व का अनुभव करता है; तब तक परोक्षानुभूति रहती है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति तो नयपक्षातीत है।''

निश्चय-व्यवहारनय की भूतार्थता और अभूतार्थता

"**शंका** – यदि व्यवहार और निश्चय – इन दोनों नयों के द्वारा तत्त्व का अनुभव परोक्षानुभूतिरूप होता है तो दोनों ही नय, सामान्यरूप से ही पूज्यत्व को प्राप्त होंगे?

समाधान – नहीं, व्यवहारनय तो पूज्यतर है, लेकिन निश्चयनय पूज्यतम है।

शंका – प्रमाणलक्षण वाला व्यवहारनय; व्यवहार, निश्चय, [उभय] और अनुभय – सभी को ग्रहण करने वाला होने से उसका विषय अधिक होने पर भी वह पूज्यतम क्यों नहीं है?

समाधान – क्योंकि वह प्रमाणलक्षण वाला व्यवहारनय भी आत्मा को नयपक्षातीत नहीं कर सकता, अतः वह भी पूज्यतम नहीं है; क्योंकि प्रमाण में यद्यपि निश्चय का अन्तर्भाव होने पर भी वह अन्ययोग का व्यवच्छेद नहीं करता तथा अन्ययोग के व्यवच्छेद के अभाव में व्यवहार –लक्षणवाली भावक्रिया (विकल्पजाल) का निरोध करना अशक्य है; अतः वह आत्मा को ज्ञानचैतन्य में स्थापित नहीं कर सकता।

आगे और भी कहते हैं – निश्चयनय, आत्मा को सम्यक् प्रकार से एकत्व निकट ले जाकर, ज्ञान-चैतन्य में अच्छी तरह स्थापित करके, परमानन्द को उत्पन्न करके, वीतराग करता हुआ, स्वयं निवृत्त होकर आत्मा को नयपक्षातिक्रान्त करता है; अतः वह पूज्यतम है।

इस प्रकार निश्चयनय, परमार्थ का प्रतिपादक होने से भूतार्थ है, इसी का निरन्तर आश्रय लेने से आत्मा, अन्तर्दृष्टिवान् होता है। ...... इस प्रकार भूतार्थस्वरूप शुद्धात्मा की अद्भुत शुद्ध सारभूत महिमा शाश्वतरूप से अनन्तकालपर्यन्त जयवन्त वर्तो।"

ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त प्रथम अध्याय में समयसार की ११वीं गाथा की प्रधानता से 'शुद्धनयाश्रित निश्चयशुद्धि का कथन' किया है।

इस 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' के 'द्वितीय अध्याय' में व्यवहार-प्रपंच द्वारा अर्थात् वस्तु के जानने के उपायों / साधनों द्वारा (प्रमाण-नय-

निक्षेप के भेद-प्रभेद द्वारा) '**व्यवहार शुद्धि का वर्णन**' किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रमाण (ज्ञान) का प्रयोग (१. करणवाची, २. भाववाची, ३. कर्तृवाची, ४. कर्मवाची) चार प्रकारों से किया जाता है –

१. जिस **प्रमाण** के द्वारा वस्तु जानी जाती है, उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं – यह 'प्रमाण का करणवाची प्रयोग' है।

२. **प्रमिति** (प्रमाण-ज्ञान से जानने का फल) प्रमाण है – यह 'प्रमाण का भाववाची प्रयोग' है।

३. **प्रमाता** सम्यक् प्रकार से जानता है – यह 'प्रमाण का कर्तृवाची प्रयोग' है। ?

४. **प्रमेय** जाना जाता है – प्रमाण का कर्मवाची प्रयोग है।

प्रमाण की भाँति नयों पर भी उपर्युक्त व्यवहार-प्रपंच लागू होता है। प्रमाण का प्रयोग जब व्यवहार के लिए होता है, तब वह 'स्यात्' पद की अपेक्षा रखता है और तभी उसका सम्बन्ध नयों से होता है।

इस ग्रन्थ में नयज्ञान को परोक्ष और प्रमाणज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है क्योंकि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के अनन्त धर्मों एवं धर्मी द्रव्य को एकसाथ नहीं जानता, जबकि प्रमाण अनन्त धर्मों को एवं धर्मी द्रव्य को एकसाथ जानता है। नय तो अंश का ग्रहण करनेवाला श्रुत-विकल्प है।

इस अध्याय में नयज्ञान की आवश्यकता एवं नय व प्रमाण में कथंचित् भेदाभेद भी सिद्ध किया गया है, क्योंकि नय (कथंचित्) प्रमाण नहीं है और प्रमाण भी नय नहीं है, तदपि प्रमाण का अंश होने से नय अप्रमाण (असत्य) भी नहीं है। संज्ञा-संख्या-लक्षण-प्रयोजन आदि के भेद से इनमें भिन्नता होने पर भी अभिन्नता भी है ही, क्योंकि दोंनों श्रुत-विकल्परूप हैं। वस्तु को युक्तिमार्ग से नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव आदि में क्षेपण करना अर्थात् अच्छी तरह स्थित करना ही 'निक्षेप' कहलाता है।

इस अध्याय में गद्यांशों एवं पद्यांशों द्वारा किया गया कथन लगभग बराबर ही है; इसमें ४७ संस्कृत पद्य हैं, जिनका हिन्दी में सटीक पद्यानुवाद

पं. श्री अभयकुमारजी (जैनदर्शनाचार्य) देवलाली ने किया है। इस अध्याय में 'व्यवहार-शुद्धि' से तात्पर्य कहीं चरणानुयोग-कथित बाह्य व्यवहारशुद्धि से नहीं है, वरन् वस्तु (आत्मा) के भेदाभेद समन्वित अभेद, अखण्ड स्वभाव को प्रमाण-नय-निक्षेप द्वारा जानना ही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस द्वितीय अध्याय में समयसार १२वीं गाथा की प्रधानता से व्यवहार-उपनयाश्रित व्यवहार-शुद्धि का कथन किया गया है।

द्वितीय अध्याय के बाद अन्तिम तृतीय अध्याय में आचार्य देवसेन ने '**निश्चय-व्यवहार के अविनाभावित्व का निर्णय करानेवाला कथन**' किया है अर्थात् प्रथम अध्याय में 'निश्चय-शुद्धि का स्वरूप' एवं द्वितीय अध्याय में कथित 'व्यवहार-शुद्धि का स्वरूप' समझाकर, इस तृतीय अध्याय में 'निश्चय-व्यवहार दोनों का सुमेल' समझाया गया है, सर्वथा एकान्त का निषेध किया है - यह आगम-अध्यात्म के रहस्य का उद्घाटन करनेवाला भी है, जिसके प्रारम्भ में ही यह कहा गया है -

''यद्यपि मोक्षरूपी कार्य की सिद्धि में भूतार्थ से जाने गये आत्मा आदि ही उपादान कारण हैं, तथापि सहकारी कारणों के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती; अत: सहकारी कारण की प्रसिद्धि के लिए निश्चय-व्यवहार का अविनाभावीपना बताते हैं।

शंका - यदि वस्तु वास्तव में कल्पनातीत (नयातीत / विकल्पातीत) है तो इस निश्चय-व्यवहार की कल्पना से क्या लाभ है?

समाधान - मूढता-लक्षणवाली, स्वभाव-निरपेक्ष, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित और मोह के उदय से उत्पन्न होनेवाली जो असत्कल्पना है, उसी की निवृत्ति के लिए यह निश्चय-व्यवहार की सत्कल्पना जिनागम में कही गई है।

असत्कल्पना, निश्चय-व्यवहार-उभय-अनुभय - इन चार के स्वरूप के सम्बन्ध में विमूढ़ होने से मूढ़ता-लक्षणवाली होती है।

मूढ़ता-लक्षणवाली असत् कल्पना

(Conjecturing with misconception - 1. About the truth i.e. real, 2. About untruth i.e. unreal or conventional, 3. About both and 4. About not both.)

१. निश्चयस्वरूप के सम्बन्ध में विमूढ़ अर्थात् एकान्त व्यवहारी / व्यवहारवादी - जो वस्तु के वास्तविक, भूतार्थ या निश्चय स्वरूप से अपरिचित व अनभिज्ञ हैं, परमार्थ के विषय में विमूढ़ (अज्ञानी / मूढ़) हैं अर्थात् अभेद व अनुपचार लक्षण वस्तु के परमार्थ स्वरूप को ग्रहण नहीं करते, किन्तु भेद व उपचार के द्वारा जो वस्तु का व्यवहार स्वरूप कहा जाता है, उसे ही निश्चय / परमार्थ मानते हैं; वे 'एकान्त व्यवहारवादी' हैं।

२. व्यवहारस्वरूप के सम्बन्ध में विमूढ़ अर्थात् एकान्त निश्चयवादी - जो वस्तु के अभूतार्थ या व्यवहार स्वरूप से अपरिचित व अनभिज्ञ हैं, व्यवहार के स्वरूप में विमूढ़ (अज्ञानी / मूढ़) हैं अर्थात् निश्चय (अभेद व अनुपचार) से अविरोधी, भेद व उपचार के द्वारा वस्तु का कथन करनेवाले समीचीन व्यवहार को नहीं जानते, नहीं मानते अर्थात् जिस सम्यक् व्यवहार से अर्थात् प्रमाण-नय-निक्षेपात्मक भेद व उपचार के द्वारा वस्तु का परमार्थ स्वरूप समझा / समझाया जाता है, उसे जो नहीं मानते हैं, वे व्यवहार के विषय में विमूढ़ (अज्ञानी) 'एकान्त निश्चयवादी' हैं।

३. निश्चय-व्यवहार - दोनों के स्वरूप के सम्बन्ध में विमूढ़ अर्थात् एकान्त उभयवादी - जो निश्चय-व्यवहार दोनों के स्वरूप के विषय में विमूढ़ (अज्ञानी / मूढ़) हैं अर्थात् परमार्थभूत अभेद व अनुपचार लक्षणवाले वस्तु के निश्चय स्वरूप तथा अपरमार्थभूत भेद व उपचार लक्षणवाले वस्तु के व्यवहार स्वरूप - इन दोनों एकान्तों को सर्वथा समान सत्यार्थ माननेवाले 'एकान्त उभयवादी' हैं।

४. निश्चय-व्यवहार - अनुभय के सम्बन्ध में विमूढ़ अर्थात् एकान्त अनुभयवादी - जो निश्चय-व्यवहार दोनों के स्वरूपों से आलिंगित भेदाभेदात्मक वस्तु को नहीं जानते, नहीं मानते और वस्तु को सर्वथा अनिर्वचनीय / अवक्तव्य अथवा अनध्यवसायस्वरूप मानते हैं, वे अनुभयवादी हैं।

इन सभी के मिथ्या अभिप्रायरूप मोह के क्षयार्थ निश्चय-व्यवहार से आलिंगित वस्तु का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि निश्चय से अविरोधी व्यवहार का तथा सम्यक् व्यवहार से सिद्ध होनेवाले निश्चय का ही परमार्थपना स्वीकार किया गया है।

सापेक्ष नय ही समीचीन अर्थक्रियाकारी सिद्ध होते हैं, न कि निरपेक्ष नय; अतः निश्चय-व्यवहार के यथायोग्य मिश्रपने को मानने में ही सत्य मत है, क्योंकि निश्चय से सर्वथा भेद करने पर / मानने पर व्यवहार व्यवहाराभासत्व को प्राप्त हो जाता है और व्यवहार से सर्वथा भेद करने पर / मानने पर निश्चय भी निश्चयाभासत्व को प्राप्त हो जाता है; अतः निश्चय-व्यवहार को कथंचित् / स्यात् सापेक्ष मानना चाहिए।

इसी प्रकार परस्पर अविनाभावीपने के कारण कथंचित् भेदरूप निश्चय-व्यवहार की सहज सिद्धि होती है, अन्यथा उनका आभास हो जाता है - ऐसे व्यवहार की प्रसिद्धि से ही निश्चय की प्रसिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। जो इनके सम्बन्ध में 'यह इसी प्रकार है' - ऐसी सम्यक् श्रद्धा आदि का ग्रहण नहीं करते तो उसे स्वभाव-निरपेक्ष असत्कल्पना भी कहा है।

इस तृतीय अध्याय में द्रव्य का लक्षण 'स्वभाव से ही सत्'/सत्ता लक्षण सिद्ध किया गया है। इस सत्ता लक्षण के सम्यक् निर्देश द्वारा ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। सत्ता (सत् / अस्तित्व) का द्रव्य के साथ अविनाभावीपना मानने से ही लक्षणाभास का निराकरण होता है।

जो सत्तात्मक है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक और गुण-पर्यायात्मक, अन्वय-व्यतिरेकात्मक, सामान्य-विशेषात्मकरूप त्रिकाल

ही रहता है, क्योंकि यदि द्रव्य स्वतःसिद्ध 'सत्ता' लक्षण नहीं माना जाएगा तो वह असत् होगा, तब द्रव्य का द्रव्यत्व स्वरूप ही समाप्त हो जाएगा। जो वस्तु का स्वरूप तथ्यात्मक है, अनन्त गुण-धर्मात्मक है, उसके अंशों को 'स्यात्' शब्द के द्वारा श्रुत-विकल्परूप नयों के द्वारा बतलाया जाता है।

तत्त्वनिर्णयार्थ ही नय कार्यकारी

धवलादि ग्रन्थों में कहा है -

प्रमाण-नय-निक्षेपै-र्योऽर्थेनाऽभिसमीक्षते।
युक्तं चायुक्तवद्भाति, तस्यायुक्तं युक्तवत्।।

अर्थात् जो पदार्थ का प्रत्यक्षादि प्रमाणों, नयों या निक्षेपों के द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से विचार नहीं करता है, उसे पदार्थ का समीक्षण कभी युक्त होते हुए भी अयुक्त-सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्त की तरह प्रतीत होता है। (धवला १ / १ / गाथा १० / पृष्ठ १७)

णत्थि णएहिं विहूणं, सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदम्हि।
तो णयवादे णिउणा, मुणिणो सिद्धंतिया होंति।।
तम्हा अहिगय-सुत्तेण, अत्थं संपायणम्हि जइयव्वं।
अत्थ गई वि य णयवाद-गहण-लीणा दुरहियम्मा।।

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है; इसलिए जो मुनि, नयवाद में निपुण होते हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझना चाहिए।।

अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागम को भले प्रकार जान लिया है, उसे अर्थ-सम्पादन में अर्थात् नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थ का परिज्ञान करने में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पदार्थों का परिज्ञान भी नयवाद-रूपी जंगल में अन्तर्निहित है, अतएव दुरधिगम्य है अर्थात् जानने के लिए कठिन है। (धवला १ / १ / गाथा ६८-६९ / पृष्ठ ९२)

और भी कहा है -

नयैर्बिना लोकव्यवहारानुपपत्तेर्नया उच्यन्ते। तद्यथा –

प्रमाण-परिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः। स द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति।

अर्थात् नयों के बिना लोक-व्यवहार नहीं चल सकता है; इसलिए यहाँ पर नयों का वर्णन करते हैं, उन नयों का खुलासा इस प्रकार है –

प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश में वस्तु का निश्चय करनेवाले ज्ञान को 'नय' कहते हैं। वह नय, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो प्रकार का है। (धवला १ / १ / पृष्ठ ८४)

प्रमाणादिव नयवाक्याद् वस्त्ववगममवलोक्य प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः।

अर्थात् जिस प्रकार प्रमाण से वस्तु का अवबोध होता है, उसी प्रकार नय से भी वस्तु का बोध होता है – यह देखकर तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण और नयों से वस्तु का बोध होता है; इस प्रकार प्रतिपादन किया है।

(कषायपाहुड़ १ / १३-१४ / पृष्ठ २०९)

सम्यक् नय ही कार्यकारी, मिथ्या नय नहीं

यहाँ तृतीय अध्याय के श्लोक ३ में कहा है –

दुर्नयैकान्तमारूढ़ाः, भावाः न स्वार्थिकाः हिताः।
स्वार्थिकास्तद्विपर्यस्ताः, निःकलंकास्तथा यतः।।

अर्थात् दुर्नयरूप एकान्त में आरूढ़ भाव स्वार्थक्रियाकारी नहीं होते, उससे विपरीत सुनय के आश्रित निष्कलंक तथा शुद्धभाव ही कार्यकारी होते हैं।

सर्वथा एकान्त से सत्तारूप पदार्थ की नियत अर्थ वाली व्यवस्था सम्भव नहीं होती है, क्योंकि ऐसा मानने पर संकर-व्यतिकर आदि सभी दोषों का प्रसंग प्राप्त होता है; तथा पदार्थ को सर्वथा असत्‌रूप मानने पर सकल-शून्यता का प्रसंग प्राप्त होता है।

इसी प्रकार का भाव, श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रवचनसार गाथा ९५ में व्यक्त किया है –

स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्यायसहित है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं।

इसी वस्तु-निष्ठ विज्ञान को आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५ में तीन सूत्रों में अभिव्यक्त किया है –

१. **सद्द्रव्यलक्षणम्** अर्थात् द्रव्य का लक्षण 'सत्' है।

२. **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्** अर्थात् जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हो, वह 'सत्' है।

३. **गुण-पर्ययवद्द्रव्यम्** अर्थात् गुण-पर्यायवाला 'द्रव्य' है।

इसी तरह प्रवचनसार गाथा ९८ में कहा गया है –

द्रव्य, स्वभाव से सिद्ध है और वह स्वभाव से ही सत् है - ऐसा जिनेन्द्रदेव ने यथार्थतः कहा है; यह आगम से सिद्ध है। जो इसे नहीं मानता, वह वास्तव में परसमय (मिथ्यादृष्टि) है।

इसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है –

"वास्तव में द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वभावसिद्ध है, उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता से है, क्योंकि जो अनादिनिधन होता है, वह साधनान्तर की अपेक्षा नहीं रखता। वह गुण-पर्यायात्मक – ऐसे अपने स्वभाव को ही, जो कि मूल साधन है, उसे धारण करके स्वयमेव सिद्ध हुआ वर्तता है।"

.... यही बात पंचाध्यायी श्लोक ८ में भी कही है।

मूल स्वभाव के नष्ट हुए बिना चेतन-अचेतन द्रव्य में नवीन अवस्था का प्रगट होना 'उत्पाद' है और उसी क्षण पूर्व अवस्था का अभाव होना 'व्यय' है। अनादि-अनन्तकाल तक सदा बना रहनेवाला मूल स्वभाव, जिसका उत्पाद या व्यय नहीं होता, उसे 'ध्रौव्य' कहते हैं।

It means 'Permanancy with a change. (अर्थात् बदलने के साथ स्थायित्व) i.e. No substance is destroyed, every substance changes its forms / state.

सुप्रसिद्ध लाक्षणिक ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि (५/३०) में 'ध्रौव्य' की परिभाषा इस प्रकार दी है –

अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः।

अर्थात् जो अनादिपारिणामिकस्वभाव के द्वारा व्यय और उत्पाद के अभाव से ध्रुव रहता है, स्थिर रहता है, वह 'ध्रुव' है।

आचार्य देवसेन ने इसी अध्याय में अन्यान्य अनेक प्रकार की असत् कल्पनाओं के निराकरणार्थ कहा है कि 'सर्वथा एकान्त मान्यतावालों का कभी भी मोहान्धकार नष्ट नहीं हो सकता और मोक्षरूपी कार्य की सिद्धि भी निश्चय-व्यवहार का अविनाभावीपना माने बिना नहीं हो सकती है।' कुछ एकान्त मान्यताओं के दोष वहाँ निम्न प्रकार से दर्शाये गये हैं –

१. **सर्वथा एकान्त से सत्तारूप पदार्थ** की नियत अर्थ वाली व्यवस्था सम्भव नहीं होती है; क्योंकि ऐसा मानने पर संकर-व्यतिकर आदि सभी दोषों का प्रसंग प्राप्त होगा।

२. इसी प्रकार **पदार्थ को सर्वथा असत्रूप** मानने पर भी सकल-शून्यता का प्रसंग प्राप्त होगा।

३. यदि **पदार्थ को सर्वथा नित्य एकरूप कूटस्थ** ही मानें और स्व-स्वरूप से परिणमित होनेवाला न मानें तो अदृष्ट-कल्पना आदि दोषों का प्रसंग प्राप्त होगा।

४. इसी प्रकार यदि **पदार्थ को सर्वथा अनित्य** मानें तो निरन्वयपने के कारण प्रत्यभिज्ञान आदि ही सम्भव नहीं होगा।

५. यदि पदार्थ को **सर्वथा एकरूप सामान्य** ही मानें तो विशेष के अभाव में सामान्य का भी अभाव हो जाएगा।

६. इसी प्रकार यदि **पदार्थ को सर्वथा अनेकरूप / विशेषरूप** ही मानें तो विशेष के आधार/आश्रयभूत सामान्य या द्रव्य का ही अभाव हो जाएगा।

७. **सर्वथा भेदपक्ष** मानने पर विशेष (गुण-पर्यायरूप) स्वभावों के निराधार होने से अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का अभाव हो जाएगा।

८. इसी प्रकार **सर्वथा अभेदपक्ष** मानने पर भी सर्वथा एकत्व होने से अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का अभाव हो जाएगा।

९. **सर्वथा भव्यपना** मानने पर, पर-पदार्थरूप भी परिणमित होने के कारण पर-परिणति के साथ संकर आदि दोषों का प्रसंग प्राप्त होगा।

१०. इसी प्रकार **सर्वथा अभव्यपना** मानने पर, पदार्थ स्व-स्वरूप से भी परिणमित नहीं होगा, जिससे सकल-शून्यता का प्रसंग आएगा।

११. **सर्वथा स्वभावरूप पदार्थ** मानने पर विभाव से निरपेक्षता होने के कारण संसार का ही अभाव हो जाएगा।

१२. इसी प्रकार **सर्वथा विभावरूप पदार्थ** मानने पर स्वभाव से निरपेक्षता होने से मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा।

१३. '**सर्वत्र चैतन्य ही व्याप्त है**' – ऐसा एकान्त से मानने पर सभी जड़-चेतन पदार्थों में शुद्ध-ज्ञान-चैतन्य की व्याप्ति का प्रसंग आएगा, क्योंकि यह सामान्य वचन है।

१४. इसी प्रकार **सर्वथा अचैतन्य पक्ष** में भी अर्थात् '**सर्वत्र अचैतन्य ही व्याप्त है**' – ऐसा एकान्त से मानने पर सर्वत्र सभी जड़-चेतन पदार्थों में चैतन्य के उच्छेद (नाश) का प्रसङ्ग आएगा।

१५. **आत्मा को सर्वथा मूर्तपना** मानने पर आत्मा की मोक्ष के साथ व्याप्ति का अभाव हो जाएगा अर्थात् आत्मा को कभी मोक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि आत्मा, मूर्त कर्मों के साथ ही तन्मय हो जाएगा।

१६. इसी प्रकार **सर्वथा अमूर्तपना** मानने पर आत्मा की संसारदशा का ही अभाव हो जाएगा, क्योंकि अमूर्तपना होने से आत्मा, संसारदशा में भी द्रव्यकर्मों से निरपेक्ष हो जाएगी।

१७. **सर्वथा एकप्रदेशीपना** मानने पर आत्मा की अनेक प्रदेशों से निरपेक्षता हो जाने पर अनेककार्यकारित्व की हानि हो जाएगी।

१८. इसी प्रकार **सर्वथा अनेकप्रदेशीपना** मानने पर भी एक [अखण्ड] आधार के अभाव में एककार्यकारित्व की हानि हो जाएगी।

१९. **सर्वथा शुद्ध** मानने पर अशुद्धता के अभाव में संसार का ही अभाव हो जाएगा।

२०. इसी प्रकार **सर्वथा अशुद्ध** मानने पर आत्मा को कभी भी शुद्धज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह आत्मा अशुद्धता से तन्मय हो जाएगा।

२१. **सर्वथा कर्मज उपचरित स्वभाव** मानने पर आत्मा के कभी भी आत्मज्ञता संभव नहीं हो सकेगी, क्योंकि सदैव परपदार्थों की नियमितता बनी रहने से परज्ञता ही सिद्ध होगी, आत्मज्ञता नहीं।

२२. इसी प्रकार **सर्वथा अनुपचरितपना** मानने पर आत्मा के परज्ञता आदि उपचरित स्वभावों के होने में विरोध प्राप्त होगा अर्थात् सिद्धों के परज्ञता, परदर्शनत्व आदि स्वाभाविक उपचरित स्वभावों के होने में विरोध प्राप्त होगा।

इसी तरह उक्त सभी के सम्बन्ध में **उभय-एकान्त पक्ष** में भी विरोध प्राप्त होगा, क्योंकि वहाँ दोनों प्रकार के दोषों की संभावना होगी।

शंका – यदि उभय-एकान्त पक्ष में भी दोनों प्रकार के दोष सम्भवित हैं तो अनेकान्त पक्ष में भी उन दोषों का निराकरण कैसे होता है ?

समाधान – स्याद्वाद होने से अनेकान्त में विरोध आदि दोष सम्भव नहीं हैं, क्योंकि क्षेत्रादि की अपेक्षा सर्वथा भेद मानने पर ही विरोध आदि दोष दिखाई देते हैं। ..... जैसे, सर्प-नेवले में विरोध होता है।

... इस प्रकार सर्वथा एकान्त मानने पर संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अभाव, अदृष्ट-कल्पना, दृष्ट-परिहानि, विरोध और वैयधिकरण – ये आठ प्रत्यक्ष दोष प्राप्त होते हैं।

नाना-स्वभाव-संयुक्तं, द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणतः।
तच्च सापेक्षसिद्ध्यर्थं, स्यान्नयमिश्रितं कुरु॥ ४॥
भावः स्यादस्तिनास्तीति, कुर्यान्निर्दोषमेव तं।
फलेन चाऽस्य सम्बन्धो, नित्याऽनित्यादिकं तथा॥ ५॥

अर्थात् प्रमाण के द्वारा अनेकस्वभावों से युक्त द्रव्य को जानकर, उसी की सापेक्ष सिद्धि करने के लिए नयों की योजना करनी चाहिए।।

द्रव्य को कथंचित् अस्ति-नास्तिरूप मानना निर्दोष ही है, क्योंकि तभी अर्थक्रियाकारित्व सम्भव होता है। इसी प्रकार द्रव्य को कथंचित् नित्यानित्यात्मक मानने पर ही अर्थक्रिया संभव होती है।। ४-५।।

प्रत्येक द्रव्य, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तिरूप है – यह ज्ञान कराने के प्रयोजन से कथंचित् या स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाता है; अर्थात् वस्तु, कथंचित् अस्तिस्वरूप और कथंचित् नास्तिस्वरूप है।

इसी तरह वस्तु, द्रव्य अपेक्षा कथंचित् नित्य और पर्याय अपेक्षा कथंचित् अनित्य है। वस्तु, सद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा कथंचित् भेदरूप और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा कथंचित् अभेदरूप है। इस प्रकार व्यवहार की सिद्धि करना ही भेदस्वभाव का फल है तथा परमार्थ की सिद्धि करना, अभेदस्वभाव का फल है।

अपने स्वरूप से परिणमन करना, वस्तु का भव्यत्वधर्म है और परस्वरूप से परिणमन करना अशक्य है अर्थात् परस्वरूप से परिणमन न करना, वस्तु का अभव्यत्वधर्म है। इस प्रकार अपनी पर्यायरूप परिणमन करना ही भव्यत्वस्वभाव का फल है तथा परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमन न करना / त्याग करना ही अभव्यत्वस्वभाव का फल है।

वस्तु (आत्मा) पारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा परमस्वभाव है और विभाव / कर्मज स्वभाव की अपेक्षा से अपरमस्वभाव है। इस प्रकार

स्वभाव से अचलित वृत्ति ही परमस्वभाव का फल है तथा पर्याय में विकृति करना ही विभाव का फल है। वहाँ स्वभाव से अन्यथा परिणमन करना विभाव है। केवल (स्वतन्त्र) भाव को शुद्धभाव कहते हैं तथा केवल (स्वतन्त्र) भाव से विपरीत भाव को अशुद्धभाव कहते हैं।

स्वभावों का अन्यत्र उपचार करने से उपचरित स्वभावों की सिद्धि होती है। वे दो प्रकार के हैं – १. कर्मज और २. स्वाभाविक। जैसे, संसारी जीव के मूर्तत्व एवं अचेतनत्व आदि भाव कर्मोदयजनित होने से कर्मज उपचरित स्वभाव हैं तथा सिद्धों के परज्ञता, परदर्शनत्व आदि स्वाभाविक उपचरित स्वभाव हैं।

इस प्रकार अस्तिस्वभाव, परमस्वभाव आदि तो सामान्य स्वभाव हैं; तथा चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, शुद्ध-स्वभाव, अशुद्धस्वभाव, उपचरित स्वभाव आदि विशेष स्वभाव हैं। जैसे, असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा (वस्तु) को कथंचित् मूर्तत्व है, रूपित्व है; उसी समय पारिणामिक परमस्वभाव की अपेक्षा आत्मा अमूर्तिक है, अरूपी है। इस मूर्तत्व के कारण कर्मबन्ध होता है, अत: वह उसका फल है; इसी प्रकार अमूर्तत्व के कारण स्वभाव का अपरित्याग होता है, अत: वह उसका फल है।

जिस समय भेदकल्पना-निरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा आत्मा (वस्तु) एकप्रदेशी है; उसी समय भेदकल्पना-सापेक्ष द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा आत्मा (वस्तु) अनेकप्रदेशी है – इस वचन का कथंचित् एकप्रदेशी-पने के साथ अविरोध है। इस प्रकार निश्चय के साथ एकत्व का समर्थन करना एकप्रदेशीपने का फल है तथा अनेक कार्यों को करना, अनेकप्रदेशी-पने का फल है।

जिस प्रकार केवलस्वभाव की प्रधानता से आत्मा का शुद्धस्वभाव है, उसी प्रकार मिश्रस्वभाव की प्रधानता से आत्मा कथंचित् अशुद्ध है – इस वचन का कथंचित् शुद्ध के साथ अविरोध है; अत: स्वभाव की प्राप्ति

होना, शुद्धपने का फल है तथा स्वभाव की प्राप्ति न होना, अशुद्धपने का फल है।

इसी शृंखला में आत्मा के स्वभाव का अन्यत्र उपचार करने की अपेक्षा उपचरित स्वभाव है और उसके ही अनुपचार की अपेक्षा उपचरितपना न होने से कथंचित् अनुपचरित स्वभाव है – इस वचन का कथंचित् उपचरित के साथ अविरोध है। परज्ञता, परदर्शनत्व आदि उपचरित स्वभाव के फल हैं; तथा परज्ञता आदि से विपरीत आत्मज्ञता आदि अनुपचरित स्वभाव के फल हैं।

इस प्रकार आत्मा अपने-अपने बन्ध एवं मोक्ष के कारणों / कारण-कलापों से क्रमश: बँधता एवं मुक्त होता है।

वहाँ उक्त सर्व कथन का सारांश बताते हुए निम्न काव्य लिखा है –

स्वभावसेवया चासौ, स्वभावः पारिणामिकः।
शुद्धः शुद्धः स्वभावः स्यादशुद्धस्तु हि बन्धकः॥ ४॥

अर्थात् आत्मा का स्वभाव शुद्ध पारिणामिकभाव है। इस शुद्धस्वभाव के सेवन से जीव मुक्त होता है तथा अशुद्धस्वभाव के सेवन से बँधता है।

इस श्लोक का फलितार्थ स्वयं आचार्य देवसेन ने गद्यांशरूप में इस प्रकार व्यक्त किया है –

तस्माद् द्वावपि नाऽऽराध्यावाऽऽराध्यः पारमार्थिकः।

एवं यदेव वस्तु व्यवहारनयाऽऽलिंगिते खण्डितमनेकमुपचरितं, तदेव निश्चयाऽऽलिंगितेनाऽखण्डितैकमनुपचरितमऽनाद्यनिधनं, उभया-ऽऽलिंगितेनोभयात्मकं, उभयनयविकल्परहितत्वेनाऽनुभयात्मकं।

एवं व्यवहारदृष्ट्याऽऽलिंगितत्वात् परसापेक्षत्वेनाऽनुभयस्याऽपि व्यवहारत्वं; अतएव व्यक्तिनिष्ठत्वेन निश्चयतया पुनरभिहितः।

अर्थात् शुद्धता और अशुद्धता, दोनों ही विकल्प आराध्य नहीं हैं, केवल पारमार्थिक (पारिणामिक) ही आराध्य है।

इस प्रकार जो वस्तु व्यवहारनय की अपेक्षा खण्डित है, अनेकरूप है एवं उपचरित है; वही निश्चयनय की अपेक्षा अखण्डित है, एक है, अनुपचरित है एवं अनादिनिधन है; वही उभयनयों की अपेक्षा उभयात्मक है तथा वही उभयनयों के विकल्प से रहित होने से अनुभयस्वरूप है।

इस प्रकार वस्तु, व्यवहार दृष्टि से आलिंगित होने से पर-सापेक्ष या परस्पर सापेक्ष है तथा परस्पर सापेक्ष होने से अनुभय स्वरूप का भी व्यवहारपना है। अतएव वस्तु, व्यक्ति-निष्ठ (सापेक्ष) होने से यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है –

एको भावः सर्वभावस्वभावः, सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः, सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः॥ ७॥

अर्थात् जो एक भाववाला है, वह सर्वभाव के स्वभाववाला है; तथा जो सर्वभाव हैं, वे एकभाव के स्वभावमय हैं; अतः जिसने वास्तव में एकभाव को जान लिया, उसने वास्तव में सर्वभावों को जान लिया।

शुद्धात्मानुभूति का स्वरूप

इसी 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' में समयसार की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है – ''समान या साधारण, क्षायोपशमिक या क्षायिक ज्ञानवाला यह आत्मा ही समय कहलाता है। जब यह आत्मा, सम्यक् निश्चयस्वरूप वीतरागभाव से परिणत होता है; तब वही '**समयसार**' कहलाता है।

'कर्मजभावों से अतीत ज्ञायकभाव है'; उसी की अनुभूति निश्चय-दर्शन (सम्यग्दर्शन) है; 'वही मेरा निजात्मा है' – ऐसा ज्ञान निश्चयज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है तथा .... अपने स्वभाव को स्वीकार करने से शुभाशुभ-क्रियाओं से जो निवृत्ति हो जाती है, वही सरागक्रियानिवृत्त वीतराग निश्चय-चारित्र (सम्यक्चारित्र) है। .....

सर्व प्रथम परमतत्त्व की बार-बार चिन्तारूप संवित्ति (सविकल्प स्वसंवेदन/निजशुद्धात्मभावनाभिमुख परिणति) होती है, फिर तत्त्वचिन्ता-रूप सन्तान-संवित्ति होती है, तत्पश्चात् आनन्द और परमानन्द प्रदायक अनुभूतिस्वरूप सन्तान-संवित्ति उत्पन्न होती है। वह जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की होती है। ..... इसी काल में आनन्दरूप सुख उत्पन्न होता है, उसी से प्रतिभा तथा ज्ञान की भी प्राप्ति होती है।

जब अशुभराग आदि बाह्य विनोद (-विकल्पों) से वीतरागी होकर, भूतार्थ से जाने गये समयसारस्वरूप ज्ञानसूर्य के प्रताप व प्रकाश के द्वारा महाविभ्रमरूप मोहान्धकार का अभाव होता है, तब वही प्रारब्ध-योगी उसी समय आत्मा के ज्ञानानन्द-स्वभाव को अनवरत स्वसंवित्ति के द्वारा अनुभवन करते हुए विकल्प का त्याग करता है। इसी प्रकार सर्व अवस्थाओं तथा सर्वत्र क्षपकश्रेणी में आरूढ़ योगी की ऐसी परिणति होती है।

जिस प्रकार सम्यक्व्यवहार से मिथ्या व्यवहार का निराकरण होता है; उसी प्रकार निश्चय के द्वारा व्यवहार का विकल्प भी निवृत्त होता है। तथा जिस प्रकार निश्चयनय द्वारा व्यवहार का विकल्प निवृत्त होता है; उसी प्रकार स्वपर्यवसित स्वभाव (परम निरपेक्ष स्वाश्रित स्वभाव) के अवलम्बन से एकत्व का विकल्प भी छूट जाता है। इस प्रकार जीव का जो स्वपर्यवसित स्वभाव है, वही नयपक्षातीत है।''

वस्तुतः इसका यह तृतीय अध्याय, समयसार गाथा १४३ की प्रधानता से लिखा गया है; जिसमें कहा गया है –

'नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ, दोनों ही नयों के कथन को मात्र जानता ही है, किन्तु नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता।'

इस गाथा की समयसार वचनिका के अनुसार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने जो भावार्थ लिखा है, वह बहुत ही सुन्दर है। उन्होंने लिखा है –

''जैसे, केवली भगवान, सदा नयपक्षों (के स्वरूप) के ज्ञाता-दृष्टा (साक्षी) हैं; उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से

रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभव करते हैं, तब वे नयपक्ष (के स्वरूप) के ज्ञाता ही हैं; क्योंकि यदि वह एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो उसे मिथ्यात्व से मिला हुआ पक्ष का राग होता है, परन्तु यदि प्रयोजनवश वे एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करें तो मिथ्यात्वरहित चारित्रमोह के पक्ष से (तत्सम्बन्धी) राग रहता है; लेकिन जब नयपक्ष को छोड़ कर, वस्तुस्वरूप को केवल जानते ही हैं, तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की तरह वीतराग जैसे ही होते हैं – ऐसा समझना।''

नियमसार गाथा ४८ के बाद कलश ७२ में भी कहा है –

''शुद्ध-अशुद्ध की जो विकल्पना, वह मिथ्यादृष्टि को सदैव होती है; सम्यग्दृष्टि को तो सदा कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं। इस प्रकार परमागम के अतुल अर्थ को, सार-असार के विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है, उसे हम वन्दन करते हैं। तत्त्व (वस्तु -स्वभाव) तो नयपक्षों से अतीत है। नय, केवल ज्ञेय हैं, पर उपादेय नहीं; शुद्धपारिणामिकभाव ही ज्ञेय-ध्येय-श्रद्धेय है।''

शुद्धात्मानुभूति के समय निश्चय-व्यवहार के विकल्प नहीं

इस सम्बन्ध में जिनागम में अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनमें कतिपय निम्न प्रकार हैं –

तच्चाणेसणकाले, समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये, पच्चक्खो अणुहवो जम्हा।।

अर्थात् तत्त्व के अन्वेषण काल में ही युक्तिमार्ग से (प्रमाण-नय-निक्षेप अथवा निश्चय-व्यवहारनय द्वारा) आत्मा जाना जाता है, परन्तु आत्मा की आराधना के समय अनुभव के काल में वे विकल्प नहीं होते; क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है। (वृहन्नयचक्र गाथा २६६)

एवमात्मा यावद्व्यवहारनिश्चयाभ्यां तत्त्वमनुभवति, तावत् परोक्षाऽनुभूतिः। प्रत्यक्षाऽनुभूतिर्नयपक्षाऽतीता।

अर्थात् जब तक यह आत्मा, व्यवहार और निश्चय – इन नयों के माध्यम से तत्त्व का अनुभव करता है; तब तक परोक्षानुभूति रहती है; क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति तो नयपक्षातीत है। (इसी पुस्तक से, पृष्ठ २४)

व्यवहारनिश्चयो यः, प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः, स एव फलमविकलं शिष्यः।।

अर्थात् जो जीव, व्यवहारनय और निश्चयनय के द्वारा वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप जानकर मध्यस्थ होता है, अर्थात् दोनों नयों के पक्ष से अतिक्रान्त होता है; वही शिष्य उपदेश के सकल फल को प्राप्त होता है।

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २४)

सविकल्प से निर्विकल्प होने का विधान

जिस चैतन्यस्वरूप का सविकल्प दशा में निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य-व्यापकता रूप होकर इस प्रकार प्रवर्तता है, जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो जाता है – ऐसी दशा का नाम 'निर्विकल्प अनुभव' है।

..... जैसे, रत्न को खरीदने में अनेक विचार अर्थात् विकल्प होते हैं, परन्तु जब प्रत्यक्ष उसे पहिनते हैं, तब विकल्प नहीं होते हैं; पहिनने का सुख ही होता है।

इस प्रकार सविकल्प के द्वारा निर्विकल्प अनुभव होता है – ऐसा वर्णन समयसार की आत्मख्याति टीका व आत्मावलोकनादि में है।

उपसंहार

'सत्' जैसे स्वतःसिद्ध नित्य है, वैसे ही वह स्वतः परिणमनशील अनित्य भी है; इसलिए विवक्षावश एक धर्म मुख्य तो दूसरा गौण हो जाता है। जो मुख्य-गौण की विवक्षा को छोड़कर, सर्वथा एकान्तरूप एक धर्मरूप सत् को मानते और मनवाते हैं तो उन्हें सत्यभूत पदार्थ की सिद्धि / तत्त्वोपलब्धि नहीं होती; इसलिए 'सर्वथा' मानने से सर्व विप्लव और 'कथंचित्' मानने से सर्व सिद्धि है।

जैसे, १. जो 'सत्' निश्चय-अन्वय-सामान्य-द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से ध्रुव है, नित्य है। २. वही 'सत्' व्यवहार-व्यतिरेक-विशेष-पर्याय की दृष्टि से अध्रुव है, अनित्य है। ३. वही 'सत्' प्रमाणदृष्टि से उभयात्मक है, नित्यानित्यात्मक है। तथा ४. वही 'सत्' एक-अखण्ड-अभेद-अद्वैत की दृष्टि से अनुभयात्मक है अर्थात् अभेद्य, अनिर्वचनीय, उभय नय के विकल्प से रहित निर्विकल्पात्मक अवक्तव्य है।

त्रिकाली एकरूप स्वभाव और क्षणिक एकसमयवर्ती पर्याय की अपेक्षा से सत् व्यस्त है, अन्य-अन्य है तथा जो त्रिकाली एक स्वभावरूप है, वही तो क्षणिक एकसमयवर्ती परिणाम / पर्यायरूप है – इस अपेक्षा से सत् समस्त (एकात्मक) है। परिणाम / पर्यायें क्रमवर्ती हैं और स्वभाव (गुण -धर्म-शक्तियों का पिण्ड द्रव्य) सदैव एकरूप रहने से अक्रमवर्ती है।

सारांश यह है कि 'स्यात्' पद लगाने से सब कथन अनेकान्तदृष्टि से सत्य हैं और सर्वथा एकान्तदृष्टि से मिथ्या हं ।

इस प्रकार वस्तु की सिद्धि कर लेने के पश्चात् स्वानुभूतिरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए 'निजात्मा का स्वभाव त्रिकाल शुद्ध परम पारिणामिक भावरूप है, इस शुद्धस्वभाव के सेवन से (शुद्धात्माभिमुख उपयोग से) यह जीव, निश्चय रत्नत्रय धर्म प्रगट कर मुक्त हो जाता है तथा यह जीव, अशुद्धस्वभाव के सेवन से (पर्यायदृष्टिरूप परोन्मुख उपयोग से) बँधता है।

इस प्रकार '**श्रुतभवनदीपक नयचक्र**' के सर्वान्त में श्रीमद् देवसेनाचार्यदेव ने इस ग्रन्थ को मोहान्धकार विनाशक व सकल पदार्थों का प्रकाशक कहा है तथा भव्यजीवों को इसे अपने मन में धारण करने की प्रेरणा दी है।

।। जयवन्त वर्तो जिनवाणी माँ ।।

– ब्र. हेमचन्द जैन, भोपाल / देवलाली

।। श्री वीतरागाय नमः ।।

श्रुतभवनदीपक नयचक्र

प्रथमोऽध्यायः

।। निश्चयशुद्धिकथनः ।।

(अनुष्टुप्)

श्री वर्द्धमानाऽर्कमानम्य, मोहध्वान्तप्रभेदिनं।
गाथार्थस्याऽविरोधेन, नयचक्रं मयोच्यते।। १ ।।

(हिन्दी अनुवाद)

प्रथम अध्याय

।। निश्चयशुद्धि का स्वरूप ।।

(वीर छन्द)

मोह महातम नाशक जिनवर, वर्धमान को नमन करूँ।
गाथा के अनुसार अर्थ से, ग्रन्थ लघु नयचक्र रचूँ ।।१।।

सामान्यार्थ : **मैं मोहरूपी अन्धकार को नाश करनेवाले तथा अनन्तज्ञानादिरूप लक्ष्मी के धारक श्री वर्द्धमानरूपी सूर्य को नमस्कार करके गाथा के अर्थ से अविरुद्ध नयचक्र को कहता हूँ॥ १ ॥**

विशेषार्थ – इस प्रथम मङ्गल श्लोक के द्वारा आचार्य देवसेन ने इस '**श्रुतभवनदीपक नयचक्र**' का प्रारम्भ किया है।

इस श्लोक में तीर्थनायक श्री वर्द्धमान महावीरस्वामी को नमस्कार किया है। यद्यपि यहाँ अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी को नमस्कार किया गया है; तथापि आचार्य ने वर्द्धमानस्वामी के जो विशेषण 'मोहरूपी अन्धकार को नाश करने वाले तथा अनन्त-ज्ञानादिरूप लक्ष्मी के धारक' बताये हैं, वे सभी अरहन्त-सिद्ध परमात्माओं पर भी घटित होते हैं।

इस प्रकार इस श्लोक में अन्तिम तीर्थनायक श्री महावीर-स्वामी के साथ-साथ अन्य तीर्थंकरों तथा अरहन्त-सिद्ध परमात्माओं को भी नमस्कार करते हुए मङ्गलाचरण किया गया है।

इस श्लोक में '**गाथार्थस्याऽविरोधेन**' – यह पद विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। सम्भवतः मङ्गलाचरण के पश्चात् ही आचार्यदेव ने जिन तीन गाथाओं का उल्लेख किया है, उन्हीं तीन गाथाओं की तरफ यहाँ भी आचार्य ने संकेत किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं तीन गाथाओं के विस्तारस्वरूप ही इस श्रुतभवनदीपक नयचक्र की रचना हुई है।

आशा है इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण अध्ययन करने के पश्चात् पाठकगण भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार परमागम शास्त्र एवं उनके द्वारा प्रतिपादित अध्यात्म से विशेष प्रभावित है। उक्त तीनों गाथाएँ, आचार्य कुन्दकुन्द के सुप्रसिद्ध ग्रन्थराज समयसार की ही ११वीं, १२वीं एवं १४३ वीं गाथाएँ हैं॥ १॥

(मालिनी)

जिनपतिमतमह्यां रत्नशैलादपापा-;
दिह हि समयसाराद् बुद्धबुद्ध्या गृहीत्वा।
प्रहतघनविमोहं सुप्रमाणादिरत्नं;
श्रुतभवनसुदीपं विद्धि तद्व्यापनीयम्।। २।।

जिनमत भू पर रत्नशिखर यह, समयसार निर्दोष अहो।
निजबुद्धि के बल से भली-भाँति मैं ग्रहण करूँ इसको।।
गाढ़ मोहतम नाशक सम्यक्, नय-प्रमाण से शोभित जो।
लिखता हूँ श्रुतभवनदीप नयचक्र प्रकाशित करने को।। २।।

सामान्यार्थ : **जिनेन्द्र भगवान के मतरूपी भूमि में समयसाररूपी निर्दोष पवित्र रत्नपर्वत को बुद्धि के द्वारा अच्छी तरह समझ कर, गाढ़ मोह को नष्ट करने वाले तथा सम्यक् प्रमाणादि रत्नोंवाले 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' को प्रकाशमान करने के उद्देश्य से मैं लिखता हूँ॥ २॥**

विशेषार्थ – मङ्गलाचरण के इस द्वितीय छन्द में आचार्य ने स्पष्टतः इस बात की स्वीकारोक्ति की है कि मैं इस ग्रन्थ को जिनेन्द्र भगवान के वीतरागी शासन के अन्तर्गत समयसार ग्रन्थ को विशेषतः हृदय में धारण करके बनाता हूँ।

इस मालिनी छन्द में आचार्यदेव ने उपमा अलंकार का प्रयोग किया है; जिसमें जिनेन्द्र भगवान के शासन को उत्कृष्ट भूमि एवं समयसार को पवित्र रत्नपर्वत की उपमा से अलंकृत किया है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान का शासन तो पृथ्वी की तरह

अर्थप्ररूपणाय गाथात्रयमाचष्टे –

(गाथा)

ववहारोऽभूदत्थो, भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु, सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।। ११।।
सुद्धो सुद्धादेसो, णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।। १२।।

विशाल है, उसमें समयसार परमागम एक पवित्र रत्नपर्वत की भाँति शोभायमान हो रहा है।

प्रथम श्लोक में तो आचार्य ने मात्र 'नयचक्र' लिखने की प्रतिज्ञा की थी, जबकि इस द्वितीय छन्द में उन्होंने स्पष्टत: यह निर्देश दिया है कि 'मैं प्रगाढ़ मोह को नष्ट करने वाले तथा सम्यक् प्रमाण आदि रत्नोंवाले '**श्रुतभवनदीपक नयचक्र**' को प्रकाशित करता हूँ।

वास्तव में द्रव्यश्रुत व भावश्रुतरूप समस्त जिनागम के मर्म को प्रकाशित करने वाला होने से इस ग्रन्थ का 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' – यह नाम सार्थक ही है।

सर्व प्रथम विषय (अर्थ) का प्ररूपण करने वाली तीन गाथाओं को कहता हूँ –

अभूतार्थ व्यवहार कहा है और शुद्धनय है भूतार्थ।
करें शुद्धनय का आश्रय जो, वे ही पाते सम्यग्दर्श।। ११।।

परमभाव में लीन हुए जो, उन्हें शुद्धनय है ज्ञातव्य।
परमभाव में थिर न रह सकें, वे व्यवहार कथन उपदिष्ट।।१२।।

दोण्ह वि णयाण भणिदं, जाणदि णवरं तु समयपडिबद्धो।
णदु णयपक्खं गिण्हदि, किंचिवि णयपक्खपरिहीणो।। १४३।।

उभय नयों का कथन मात्र जाने जो हुआ समय प्रतिबद्ध।
ग्रहण करें नहिं पक्ष किसी का, अतः हुआ है वह निष्पक्ष।। १४३।।

सामान्यार्थ – १. व्यवहारनय (अशुद्धनय) अभूतार्थ है तथा शुद्धनय (निश्चयनय) को भूतार्थ कहा है क्योंकि शुद्धनय का आश्रय करने वाले जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं। (समयसार ११)

२. परमभाव को देखने वालों के द्वारा शुद्ध आत्मा का कथन करने वाला शुद्धनय ज्ञातव्य है तथा जो अपरमभाव में स्थित हैं, वे व्यवहारनय के द्वारा उपदेश देने योग्य हैं। (समयसार १२)

३. नयपक्ष से रहित जीव, समय अर्थात् आत्मा से प्रतिबद्ध होता हुआ दोनों ही नयों के कथन को मात्र जानता ही है, परन्तु नयपक्ष को किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता। (समयसार १४३)

विशेषार्थ – उपर्युक्त तीनों गाथाएँ, समयसार की क्रमशः ११ वीं, १२ वीं एवं १४३ वीं गाथाएँ हैं। ये तीनों गाथाएँ, नयों से सम्बन्धित होने से '**श्रुतभवदीपक नयचक्र**' के रचयिता श्रीमद् देवसेनाचार्य ने इन्हें यहाँ उद्घृत किया है। विशेष बात यह है कि ये तीनों ही गाथाएँ, अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वश्रेष्ठ आध्यामिक ग्रन्थराज समयसार की हैं।

मङ्गलाचरण करने के तुरन्त बाद '**अर्थप्ररूपणाय गाथा-त्रयमाचष्टे**' – ऐसा कह कर, इनका उल्लेख करना – इस बात का द्योतक है कि आचार्य के हृदय में इन गाथाओं का, समयसार

का तथा आचार्य कुन्दकुन्द का विशेष स्थान था; जिससे अभिभूत होकर उन्होंने प्रारम्भ में ही इन गाथाओं को लिखा है, तथा मानो इनके विस्तार के लिए ही उन्होंने 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' की रचना की हो।

ध्यान रहे कि इस नयचक्र के आधार पर ही परवर्ती श्रीमद् माइल्ल धवल ने '**द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र**' की रचना की है, वे सर्वप्रथम ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं –

''श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत शास्त्रात् सारार्थं परिगृह्य स्वपरोपकाराय द्रव्यस्वभावप्रकाशकं नयचक्रं......[१]

(१. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १ की उत्थानिका)

श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत शास्त्र से सारभूत अर्थ को ग्रहण करके, अपने और दूसरों के उपकार के लिए द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र को....''

इस सम्बन्ध में 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' के सम्पादक सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री लिखते हैं –

''इस ग्रन्थ के रचयिता ने आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में वर्णित द्रव्यस्वभाव को और आचार्य देवसेन के नयचक्र को ग्रहण करके इस ग्रन्थ की रचना की है। जैसे, द्रव्यों के स्वभाव को समझने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थ अनमोल हैं, वैसे ही नयों के स्वरूप को समझने के लिए देवसेनाचार्य का नयचक्र अनमोल है।[२]''

(२. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १ की विशेषार्थ)

समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका आचार्य अमृतचन्द्र ने की है, जिसका भाषान्तर पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है, साथ ही प्रत्येक गाथा टीका का संक्षिप्त भावार्थ

आसां भावार्थो विचार्यते।

सर्वे जीवाः स्वस्वभावेन नयपक्षातीताः। स्वपर्यवसित स्वभाववत्वात् सिद्धस्वभाववत्।

कथं जीवस्य स्वपर्यवसितस्वभाव इति चेत्।

तद्यथा–सहजपरिणामिकज्ञायकस्वभावस्य क्षायोपशमिक –क्षायिकज्ञानयोर्निवृत्तिप्रवृत्तिस्वभावयोः कारणान्तरजनक–त्वेनोद्भूतयोरसाधारणत्वात्। क्षायोपशमिकं, यथा अनादि–सावधिः सनिधन–ज्ञाननिवर्तमानेप्यनिवृत्तत्वात्। क्षायिकं, यथा

भी लिखा है; उसमें से उपर्युक्त ११वीं, १२वीं एवं १४३वीं गाथा की टीका एवं भावार्थ लिखना अप्रासङ्गिक नहीं होगा, अत: उन्हें ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दिया गया है।

अब, इन गाथाओं का भावार्थ विचार करते हैं –

सभी जीव स्व–स्वभाव से नयपक्षातीत हैं क्योंकि सभी जीव, सिद्धस्वभाव के समान स्वपर्यवसित स्वभाव वाले हैं।

शंका – जीव का **स्वपर्यवसित स्वभाव** कैसा है?

समाधान – सहज परिणामिक ज्ञायकस्वभाव, क्षायोपशमिक –ज्ञान की निवृत्ति और क्षायिकज्ञान की प्रवृत्ति; इन दोनों से असाधारण है क्योंकि वे दोनों स्वभाव, कारणान्तरों के द्वारा उत्पन्न होकर प्रगट होते हैं।

क्षायोपशमिक ज्ञान अनादि होने पर भी सीमित एवं सनिधनरूप होने से निवृत्त (निवर्तमान) हो जाते हैं, लेकिन सहज पारणामिक ज्ञायकस्वभाव अनिवृत्त ही रहता है। इसी प्रकार

सादिनिरवध्यनिधनज्ञानेन प्रवर्तमानेऽपि तथाऽप्रवृत्तत्वात्। औपशमिकौदयिकाभ्यामनालीढत्वात् असावनाद्यनिधनः स्वभावभाव सम्पूर्णोऽकारणकः स्वयंवेद्यः (स्वसंवेद्य) स्वानुभूत्या प्रकाशेत। एवं हि जीवस्य स्वपर्यवसितस्वभावो भवति। अतएव तेन नयपक्षातीताः।

एवं विधो योऽसावर्थः, स यदा निश्चयनयाऽलिंगितो भवति तदा निश्चयात्मकं वस्तु, व्यवहारनयाऽलिंगितं वस्तु व्यवहारत्मकं। अतो नयपक्षातीतस्याऽर्थस्य निश्चय-व्यवहारो मुख्य-गौणतया प्राप्त्युपायो। असौ भावार्थः।

क्षायिकज्ञान, सादि होने पर भी निरवधि एवं अनिधनरूप होने से सदा प्रवृत्त (प्रवृतमान) रहता है, लेकिन सहज परिणामिक ज्ञायक-स्वभाववाला जीव पूर्ववत् ही अप्रवृत्त बना रहता है।

इसी प्रकार शेष औपशमिक एवं औदयिक भावों से असम्बद्ध (अनालीढ़) होने से सहज पारिणामिक ज्ञायकस्वभाव, अनादि-अनिधन, स्व-स्वभावरूप सम्पूर्ण अकारणक, स्वसंवेद्य तथा स्वानुभूति द्वारा प्रकाशमान रहता है - **ऐसा ही जीव का स्वपर्यवसित (अपने पर ही निर्भर) स्वभाव है; इसी कारण वह नयपक्षातीत है।**

इस प्रकार यह पदार्थ अर्थात् आत्मा, जब निश्चयनय से आलिंगित (सम्बद्ध) होता है, तब निश्चयात्मक वस्तु है तथा जब व्यवहारनय से आलिंगित होता है, तब व्यवहारात्मक वस्तु है; इसलिए नयपक्षातीत आत्मपदार्थ की प्राप्ति के उपाय, मुख्य-

यद्यप्यात्मा स्वभावेन नयपक्षातीतस्तथापि स तेन बिना तथाविधो न भवितुमर्हत्यनादिकर्मवशादसत्कल्पनात्मकत्वादतो नयलक्षणमुच्यते।

नयतीति नयः। स तु व्यवहारनिश्चयाभ्यां द्वेधा।

उपनयोपजनितो व्यवहारः। प्रमाणनयनिक्षेपात्मकः भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः।

कथमुपनयस्तस्य जनक इति चेत्।

सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तूपचारोत्पादकत्वात्। उपचरिताऽसद्भूतस्तूपचारादप्युपचारोत्पादकत्वात्।

गौणरूप से निश्चय-व्यवहारनय ही हैं - ऐसा भावार्थ है।

यद्यपि आत्मा, स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह नयों के बिना नयपक्षातीत नहीं हो सकता है क्योंकि अनादि कर्म के वश से यह जीव असत्कल्पना वाला है; अतः नय का लक्षण कहते हैं -

'नयतीति नयः' अर्थात् जो ले जाता है, पहुँचाता है, अथवा प्राप्त कराता है, उसे **नय** कहते हैं। वह **व्यवहार-निश्चय** के भेद से दो प्रकार का है।

उपनय से उपजनित **व्यवहारनय** होता है। जो प्रमाण-नय-निक्षेपात्मक भेद व उपचार के द्वारा वस्तु का व्यवहार करता है, वह व्यवहारनय है।

शंका - उपनय व्यवहार का जनक किस प्रकार है?

समाधान - चूंकि सद्भूतव्यवहारनय, भेद का उत्पादक

योऽसौ भेदोपचारलक्षणोऽर्थः सोऽपरमार्थः। अभेदाऽनुपचारस्याऽर्थस्य परमार्थत्वात्। अतएव व्यवहारोऽपरमार्थप्रतिपादकत्वादभूतार्थः।

निश्चयनयस्तूपनयरहितोऽभेदाऽनुपचारैकलक्षणमर्थं निश्चिनोतीति निश्चयः। स्याच्छब्दरहितत्वेऽपि न चाऽस्य निश्चयाऽभासत्वमुपनयरहितत्वात्।

कथमुपनयाऽभावे स्याच्छब्दस्याऽभाव इति चेत्।

स्यात् शब्दप्रधानत्वेनोपनयो हि व्यवहारस्य जनकत्वात्।

है; असद्भूतव्यवहारनय, उपचार का उत्पादक है तथा उपचरित असद्भूतव्यवहारनय, उपचार में भी उपचार का उत्पादक है; अतः उपनय से उपजनित व्यवहारनय होता है।

जो यह भेद व उपचार लक्षणवाला अर्थ या प्रयोजन है, वही अपरमार्थ है क्योंकि अभेद व अनुपचार लक्षण वाले अर्थ या प्रयोजन का ही परमार्थत्व है; अतएव व्यवहारनय, अपरमार्थ का प्रतिपादक होने से अभूतार्थ है।

निश्चयनय तो उपनय से रहित है। यह अभेद व अनुपचाररूप लक्षणवाले अर्थ को निश्चित करता है; अतः यह निश्चयनय कहलाता है। 'स्यात्' शब्द से रहित होने पर भी इसमें निश्चयाभासपने का प्रसङ्ग नहीं आता है क्योंकि यह उपनय से रहित है।

शंका – उपनय के अभाव में 'स्यात्' शब्द का अभाव कैसे सिद्ध होता है?

यदा तु निश्चयनयेनोपनयः प्रलयं नीयते, तदा निश्चय एव प्रकाशते। यद्यपि निश्चयनयेनाऽखण्डितैकवस्तुसद्भावः, तथाप्युपनयोपजनिताऽनेकव्यवहारकवलितं वस्तु शुद्धं। यथा राहुबिम्बप्रच्छादितं तमोरिबिम्बं।

तर्हि किमर्थं व्यवहारोऽसत्कल्पनानिवृत्यर्थं, सद्रत्नत्रयसिद्ध्यर्थं च। सद्रत्नत्रयेण तु परमार्थसिद्धिः।

स्वभावसिद्धस्य परमार्थस्य कथं तेन सिद्धिरिति वक्तव्यं।

समाधान – 'स्यात्' शब्द की प्रधानता होने से उपनय ही व्यवहार का जनक होता है; अतः उपनय के अभाव में 'स्यात्' शब्द का भी अभाव सिद्ध हो जाता है।

जब निश्चयनय से उपनय प्रलय को प्राप्त हो जाता है, तब केवल निश्चय ही प्रकाशित रहता है। यद्यपि निश्चयनय से अखण्डित एक वस्तु का सद्भाव है; तथापि उपनय से उपजनित अनेक व्यवहार से कवलित (ग्रसित) वस्तु भी शुद्ध ही है। जिस प्रकार राहुबिम्ब से आच्छादित होने पर भी सूर्य, अन्धकार का नाश करने वाला एवं प्रकाश स्वभाव वाला ही है।

शंका – यदि व्यवहार से कवलित वस्तु भी शुद्ध है तो व्यवहारनय की क्या आवश्यकता है?

समाधान – व्यवहारनय की उपयोगिता, असत्कल्पना की निवृत्ति एवं सद्रत्नत्रय की सिद्धि के लिए है तथा सम्यक् रत्नत्रय की सिद्धि से परमार्थ की सिद्धि होती है।

शंका – स्वभावसिद्ध परमार्थ की सिद्धि व्यवहार से कैसे

सद्रत्नत्रयात्सर्वथा भेदे निश्चयाऽभावः। सर्वथात्वादभेद-व्यवहारो माभूदिति। कथंचिद्भेदेन तेन सिद्धि इति वचनं।

एवमात्मा यावद्व्यवहारनिश्चयाभ्यां तत्त्वमनुभवति तावत्परोक्षानुभूतिः। प्रत्यक्षानुभूतिर्नयपक्षातीता।

तर्ह्येवं द्वावपि सामान्येन पूज्यतां गतौ।

न ह्येवं, व्यवहारस्य पूज्यतरत्वान्निश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात्।

ननु प्रमाणलक्षणो योऽसौ व्यवहारः, स व्यवहार-निश्चय-मनुभय च गृह्णन्नप्यधिकविषयत्वात्कथं न पूज्यतमो?

हो सकती है - कृपया इसका उत्तर दीजिए?

समाधान - व्यवहार का सम्यक् रत्नत्रय से सर्वथा भेद मानने पर निश्चय का भी अभाव हो जाएगा क्योंकि सर्वथा भेद को ही मानने पर अभेद का व्यवहार भी नहीं हो सकेगा; अतः कथंचित् भेद मानने पर ही व्यवहार के द्वारा परमार्थ की सिद्धि होती है - ऐसा आगम-वचन है।

इस प्रकार जब तक यह आत्मा, व्यवहारनय और निश्चयनय - इन नयों के माध्यम से तत्त्व का अनुभव करता है; तब तक परोक्षानुभूति रहती है क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति तो नयपक्षातीत है।

शंका - यदि ऐसा है तो दोनों ही नय, सामान्यरूप से ही पूज्यत्व को प्राप्त हो जाएँगे?

समाधान - नहीं, ऐसा नहीं है क्योंकि व्यवहारनय तो पूज्यतर है, लेकिन निश्चयनय पूज्यतम है।

शंका - प्रमाणलक्षण वाला व्यवहारनय; व्यवहार, निश्चय

नैवं नयपक्षातीतमात्मानं कर्तुमशक्यत्वात्। तद्यथा-निश्चयं गृह्णन्नपि अन्ययोगव्यवच्छेदं न करोतीत्यन्ययोगव्यवच्छेदाऽभावे व्यवहारलक्षणभावक्रियां निरोद्धुमशक्तः। अतएव ज्ञानचैतन्ये स्थापयितुमशक्य एवासावात्मानमिति।

तथा प्रोच्यते - निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय, ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य, परमानन्दं समुत्पाद्य, वीतरागं कृत्वा, स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रान्तं करोति तमिति पूज्यतमः।

अतएव निश्चयनयः परमार्थप्रतिपादकत्वाद् भूतार्थोऽत्रैवा-ऽविश्रान्ताऽन्तर्दृष्टिर्भवत्यात्मा।

और अनुभय - सभी को ग्रहण करने वाला होने से उसका विषय अधिक होने पर भी वह पूज्यतम क्यों नहीं है?

समाधान - क्योंकि वह प्रमाणलक्षण वाला व्यवहारनय भी आत्मा को नयपक्षातीत नहीं कर सकता, अतः वह भी पूज्यतम नहीं है। वह इस प्रकार है - प्रमाण में निश्चय का अन्तर्भाव होने पर भी वह अन्ययोग का व्यवच्छेद नहीं करता तथा अन्ययोग के व्यवच्छेद के अभाव में व्यवहारलक्षण वाली भावक्रिया (विकल्प-जाल) का निरोध करना अशक्य है; अतः वह आत्मा को ज्ञानचैतन्य में स्थापित करने में असमर्थ है।

वही आगे कहते हैं - निश्चयनय, आत्मा को सम्यक् प्रकार से एकत्व प्राप्त करा कर, ज्ञान-चैतन्य में अच्छी तरह स्थापित कर, परमानन्द को उत्पन्न कर, वीतराग करके, स्वयं निवृत्त होता हुआ, आत्मा को नयपक्षातिक्रान्त करता है; अतः वह पूज्यतम है।

स वीतरागो द्वेधा – रागक्रियानिवृत्तो, रागोदयनिवृत्तश्च।

तत्र रागक्रियानिवृत्तः प्रमत्तादिस्वरूपाऽऽराधकः षट्-प्रकारः।

रागोदयनिवृत्तस्तु क्षीणकषायादिलब्धस्वभावः चतुष्प्रकारः।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

एकत्वे व्यवहारतामुपनयन्, नानाप्रकारात्मिकां;
सत्यार्थैकपयः प्रपीय सरसं, पुष्टिं परा प्राप्तवान्।

इस प्रकार निश्चयनय, परमार्थ का प्रतिपादक होने से भूतार्थ है, इसी का निरन्तर आश्रय लेने से आत्मा, अन्तर्दृष्टिवान् होता है।

यहाँ 'वीतराग' दो प्रकार के होते हैं – १. रागक्रियानिवृत्त वीतराग और २. रागोदयनिवृत्त वीतराग।

प्रमत्तादि स्वरूप के आराधक '**रागक्रियानिवृत्त वीतराग**' छह प्रकार के हैं। (तात्पर्य यह है कि छठवें प्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान तक छह गुणस्थान '**रागक्रियानिवृत्त वीतराग**' के हैं क्योंकि यहाँ अबुद्धिपूर्वक राग का सद्भाव है, लेकिन राग की क्रिया का अभाव है।)

तथा क्षीणकषाय आदि गुणस्थान को प्राप्त स्वभाववाले '**रागोदयनिवृत्त वीतराग**' चार प्रकार के हैं। (तात्पर्य यह है कि बारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक तीन एवं सिद्ध भगवान को मिलाकर चार प्रकार '**रागोदयनिवृत्त वीतराग**'

ज्ञानानन्दविशेषभावसहजे, प्रद्योतमानः स्फुटं।
भूतार्थोऽद्भुतशुद्धसारमहिमा, जीयाच्चिरं शाश्वतः॥ ३॥

इति देवसेनभट्टारकविरचिते व्योमपण्डितप्रबोधके 'श्रुतभवनदीपके नयचक्रे' 'निश्चयशुद्धिकथनो' नाम प्रथमोध्यायः॥१॥

के हैं क्योंकि बारहवें गुणस्थान से आगे राग के उदय का भी अभाव है।)

प्रथम आत्म में विविध भाँति, व्यवहार भेद उत्पन्न हुए;
फिर सत्यार्थ एक शुद्धातम, सरस दुग्ध पी पुष्ट हुए।
ज्ञानानन्द विशेष भाव में, सहज प्रकाशित जो स्पष्ट;
शुद्धातम की सारभूत महिमा, जग में हो चिर जयवन्त॥३॥

श्लोकार्थ – पूर्व भूमिका में नाना प्रकार के व्यवहार-विकल्पों को ग्रहण करके, तत्पश्चात् (उन विकल्पों का शमन करके) एकत्व स्वरूपी आत्मा के सत्यार्थ सरस शुद्ध एवं एकरस दुग्ध (अथवा अमृत) का पान करके, जो उत्कृष्ट पुष्टि को प्राप्त हुए हैं, वे सहज ज्ञानानन्द विशेष भाव में स्पष्टरूप से प्रद्योतमान रहें। इस प्रकार भूतार्थस्वरूप शुद्ध आत्मा की अद्भुत सारभूत महिमा, शाश्वतरूप से अनन्त कालपर्यन्त जयवन्त वर्तो।

इस प्रकार **श्रीमद् देवसेन भट्टारक** विरचित व्योमपण्डित को प्रतिबोध कराने वाले '**श्रुतभवन दीपक नयचक्र**' में **निश्चयशुद्धि के स्वरूप का कथन** करनेवाला प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।

द्वितीयोऽध्यायः

।। व्यवहारशुद्धि कथनः ।।

इदानीमुपनयोपजनितो व्यवहारप्रपञ्च उच्यते।

प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणं करणत्वमस्य।

प्रमितिः प्रमाणमिती भावोऽस्य।

प्रमिमीते प्रमाणं कर्तृत्वमस्य।

द्वितीय अध्याय

।। व्यवहारशुद्धि का स्वरूप ।।

अब, उपनय से उपजनित व्यवहार-प्रपञ्च को कहते हैं -

प्रमाण की व्युत्पत्तियाँ

१. जिसके द्वारा वस्तु का परिच्छेदन अर्थात् ज्ञान करते हैं अथवा जिसके द्वारा वस्तु को जानते हैं या प्रमाणित करते हैं, उसे **प्रमाण** कहते हैं - यह **प्रमाण का करणवाची प्रयोग** है।

२. **प्रमिति** (प्रमाणज्ञान का फल) प्रमाण है - यह **प्रमाण का भाववाची प्रयोग** है।

३. जो सम्यक् प्रकार से जानता है, वह **प्रमाण** है - यह **प्रमाण का कर्तृवाची प्रयोग** है।

प्रमीयते प्रमाणं कर्मत्वमस्य।

इत्याद्यनेककारकरूपेण स्याद्भेदादिना वस्तुनिवृत्तत्वात् उपनयजनितत्वाच्चैवं व्यवहारताऽस्य।

नयोऽप्येवं द्रष्टव्यः।

कथमुपनयैः सम्बन्धः प्रमाणस्य स्वतन्त्रत्वादिति चेत्।

तद्यदा व्यवहारार्थं स्याच्छब्दमपेक्षते तदा तस्य तैस्सम्बन्धः।

यथा प्रमाणनयनिक्षेपात्मको व्यवहारः। प्रमाणप्रमाणवतोः नयनयवतोर्निक्षेपनिक्षेपवतोर्द्रव्यतोऽभेदेन, अन्यत्रोपचारात्

---

४. जो प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, वह **प्रमेय**, प्रमाण है - यह प्रमाण का कर्मवाची प्रयोग है।

इस प्रकार अनेक कारकों के माध्यम से कथंचित् भेद आदि के द्वारा वस्तु की निष्पत्ति होने से तथा उपनय से उपजनित होने से ही प्रमाण की व्यवहारता सिद्ध होती है।

प्रमाण की भाँति नयों पर भी उक्त व्यवहारप्रपञ्च घटित करके देखना चाहिए।

शंका - प्रमाण का सम्बन्ध उपनयों से कैसे हो सकता है क्योंकि प्रमाण तो स्वतन्त्र है?

समाधान - प्रमाण का जब व्यवहार के लिए प्रयोग होता है; तब वह 'स्यात्' शब्द की अपेक्षा रखता है, तभी प्रमाण का उपनयों से सम्बन्ध होता है।

जिस प्रकार प्रमाण-नय-निक्षेपात्मक व्यवहार होता है; प्रमाण-प्रमाणवान्, नय-नयवान् तथा निक्षेप-निक्षेपवान् का द्रव्य

उपचारेण स्याच्छब्दमपेक्षते तथा व्यवहारेऽपि सर्वथा भेदे तयोर्द्रव्याभावः, अभेदे तु व्यवहारविलोपः। तथोपचारेऽपि संकरादिदोषसम्भवात्। अन्यथा कर्तृत्वादिकारकरूपाणा-मनुपपत्तितः स्यादेवं व्यवहारविलोपाऽऽपत्तिः।

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं। तद्द्वेधा - परोक्षेतरभेदात्।

इन्द्रियैर्मनसा च मननं मतिः।

(द्रव्यार्थिकनय) से अभेद होने पर भी अन्यत्र (पर्यायार्थिकनय या व्यवहारनय से) उपचार होने से उस उपचार में 'स्यात्' शब्द की अपेक्षा होती है।

उसी प्रकार व्यवहार से भी सर्वथा भेद मानने पर उन (प्रमाण और प्रमाणवान्, नय-नयवान् तथा निक्षेप-निक्षेपवान्) के आश्रयभूत द्रव्य का अभाव हो जाता है, उनका सर्वथा अभेद मानने पर उनके अलग अलग व्यवहार (भेद) का ही विलोप हो जाता है, इसी प्रकार सर्वथा उपचार मानने पर संकर आदि दोषों का प्रसंग आता है। इस प्रकार कर्तृत्व आदि कारकों की उपपति (सिद्धि) नहीं मानने पर व्यवहार के विलोप की आपत्ति आती है।

प्रमाण का संक्षिप्त लक्षण एवं उसके भेद-प्रभेद

सम्यग्ज्ञान को **प्रमाण** कहते है।

वह **प्रमाण** दो प्रकार का है - **परोक्ष** एवं **प्रत्यक्ष**।

परोक्षप्रमाण के दो भेद हैं - **मतिज्ञान** एवं **श्रुतज्ञान**।

जो इन्द्रियों और मन के निमित्त से मननस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे **मतिज्ञान** कहते हैं।

अर्थादर्थान्तरज्ञानं श्रुतज्ञानं।

अतएवाऽनयोः परोक्षत्वं।

मर्यादयाऽधोऽधो वा जानातीत्यवधिः।

मनसा पर्ययनं मनःपर्ययः।

मूर्तस्य ग्राहकत्वादनयोर्विकलप्रत्यक्षत्वं।

इन्द्रियाऽनपेक्षमसहायज्ञानं केवलज्ञानं।

किसी एक पदार्थ के अवलम्बनपूर्वक किसी अन्य पदार्थ का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे **श्रुतज्ञान** कहते हैं।

उक्त दोनों - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में पर के अवलम्बन की आवश्यकता होती है, अतः ये दोनों ज्ञान **परोक्ष** कहलाते हैं।

प्रत्यक्षप्रमाण के दो भेद हैं - **विकलप्रत्यक्ष** एवं **सकल-प्रत्यक्ष**। **विकलप्रत्यक्ष** के भी दो भेद हैं - **अवधिज्ञान** एवं **मनःपर्ययज्ञान**। **सकलप्रत्यक्ष** का एक ही भेद **केवलज्ञान** है।

जो ज्ञान, अपनी मर्यादा के भीतर-भीतर (मूर्त पदार्थ को) विशद जानता है - ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान को **अवधिज्ञान** कहते हैं।

जो ज्ञान, मन के माध्यम से (मूर्त पदार्थ को) विशद जानता है - ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान को **मनःपर्ययज्ञान** कहते हैं।

उक्त अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान मात्र मूर्त पदार्थों को ही (बिना किसी अवलम्बन के प्रत्यक्षरूप से) जानते हैं, अतः ये **विकलप्रत्यक्ष** कहलाते हैं।

जो ज्ञान, इन्द्रिय (और मन) की अपेक्षा से रहित बिना किसी की सहायता के जानता है, उसे **केवलज्ञान** कहते हैं।

सकलद्रव्यविषयत्वादस्य सकलप्रत्यक्षत्वं।

परस्परविरुद्धधर्मणामेकवस्तुन्यविरोधसिद्ध्यर्थं नयः।

प्रमाणेनाऽपि धर्माणामविरोधता, तस्य प्रत्यक्षत्वात्। न ह्येवं परोक्षे प्रत्यक्षाऽभावात्।

यथा, कश्चिद् देवदत्तोऽपूर्वान् परोक्षानश्वान् राज्ञे निवेदयति। स राजा यथा, ह्रस्वदीर्घलोहिताऽऽदिधर्मावबोधाय पौनःपुन्याद्विकल्प्य पृच्छति। तथा परोक्षाऽर्थे श्रुतनिवेदिताऽनन्तधर्मावबोधनाय विकल्पा (नयाः) भवन्ति।

यह केवलज्ञान, समस्त द्रव्यों को (विशदरूप से) विषय बनाता है, अतः **सकलप्रत्यक्ष** कहलाता है।

नय का प्रयोजन

परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक वस्तु में अविरोधरूप से सिद्धि करने के लिए नयों का प्रयोग किया जाता है।

यद्यपि प्रमाणज्ञान (केवलज्ञानरूप) में भी धर्मों की अविरोधता ही है क्योंकि वह तो समस्त धर्मों को प्रत्यक्षरूप से (युगपत्) विषय बनाता है। लेकिन परोक्षरूप से वस्तु के धर्मों को विषय बनानेवाले **नयज्ञान** में सभी धर्म युगपत् नहीं जाने जाते, क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं है।

जैसे, कोई देवदत्त नाम का पुरुष, अपूर्व परोक्षभूत (दूरवर्ती) घोड़ों के बारे में राजा से निवेदन करता है; तब राजा, उन घोड़ों के छोटे-बड़े शरीर, लाल-सफेद आदि रंगों का ज्ञान करने हेतु पुनः पुनः विकल्प करके (प्रश्न करके) उस पुरुष से पूछता है। उसी

तथापि मम सन्देहः, स नयो प्रमाणादभिन्नो भिन्नो वा? भिन्नश्चेत् कथं तेन गृहीतं प्रमाणीभूतं, नो चेदन्यथा किं पृथक्करणेन।

स्याद्भेदत्वाददोषता। तद्यथा, न नयः प्रमाणं, प्रमाणमपि नयो न भवति। संज्ञालक्षणप्रयोजनभेदेन भिन्नत्वात्, अभिन्नोऽपि श्रुतविकल्पत्वात्।

प्रकार परोक्षभूत पदार्थ के आगमकथित अनन्त धर्मों का ज्ञान करने के लिए जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, उन्हें ही **नय** कहते हैं।

नय-प्रमाण में कथंचित् भेदाभेद

शंकाकार - यहाँ फिर भी मुझे सन्देह है कि वह नय प्रमाण से भिन्न है या अभिन्न? यदि नय, प्रमाण से भिन्न है तो उसके द्वारा गृहीत वस्तु प्रमाणीभूत कैसे होगी? तथा यदि नय, प्रमाण से भिन्न नहीं हैं तो उसका पृथक्‌रूप से निरूपण करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान - नय का प्रमाण से **कथंचित् भेद** होने से उनके भिन्नाभिन्न होने में कोई दोष नहीं है; वह इस प्रकार है - [कथंचित्] नय, प्रमाण नहीं है और प्रमाण भी नय नहीं है। संज्ञा, (संख्या) लक्षण, प्रयोजन आदि के भेद से नय की प्रमाण से कथंचित् भिन्नता सिद्ध है तथा नय की प्रमाण से कथंचित् अभिन्नता भी आगमप्रमाण से सिद्ध है क्योंकि नय, श्रुतज्ञानरूप प्रमाण का ही विकल्प माना गया है। अथवा नय और प्रमाण, दोनों श्रुतज्ञान के ही भेद या विकल्परूप होने से कथंचित् अभिन्न हैं।

नयस्त्वंशग्राही, श्रुतविकल्पो, ज्ञातुरभिप्रायेण वा।

यो नयः, सोऽपि नयोपनयभेदेन द्वेधा - द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकौ मूलनयभेदौ।

नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवंभूता नयस्योत्तरभेदाः।

कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः।

उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिकः।

नय का स्वरूप

वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला **नय** है। अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प **नय** है। अथवा ज्ञाता के अभिप्राय को **नय** कहते हैं।

मूलनय कितने ?

नयों को दो प्रकार से जानते है - नय और उपनय।

नयों के मूलतः दो भेद हैं अथवा मूलनय दो हैं - १. द्रव्यार्थिकनय और २. पर्यायार्थिकनय।

नयों के उत्तरभेद

१. नैगमनय, २. संग्रहनय, ३. व्यवहारनय, ४. ऋजुसूत्रनय, ५. शब्दनय, ६. समभिरूढ़नय एवं ७. भूतनय - ये नयों के सात उत्तरभेद हैं।

द्रव्यार्थिकनय के दश भेद

१. कर्म की उपाधि से निरपेक्ष **शुद्धद्रव्यार्थिकनय**।

२. उत्पाद-व्यय को गौण करके सत्ता का ग्राहक **शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय**।

भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः।

कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिकः।

उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थकः।

भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिकः।

पर्यायादिग्राहकोऽन्वयद्रव्यार्थिकः।

स्वद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिकः।

परद्रव्यादिग्राहको द्रव्यार्थिकः।

परमभावग्राहको द्रव्यार्थिकः।

---

३. भेदों की कल्पना से निरपेक्ष **शुद्धद्रव्यार्थिकनय**।

४. कर्म की उपाधि से सापेक्ष **अशुद्धद्रव्यार्थिकनय**।

५. उत्पाद-व्यय की अपेक्षा सहित **अशुद्धद्रव्यार्थिकनय**।

६. भेदों की कल्पना से सापेक्ष **अशुद्रव्यार्थिकनय**।

७. पर्याय आदि [सामान्य] का ग्राहक **अन्वय-द्रव्यार्थिकनय**।

८. स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव से अस्तित्व का ग्राहक **द्रव्यार्थिकनय**।

९. परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल-परभाव से नास्तित्व का ग्राहक **द्रव्यार्थिकनय**।

१०. परमभावग्राहक (परमपारिणामिकभाव को ग्रहण करने वाला) **[परमशुद्ध] द्रव्यार्थिकनय**।

अनादिनित्यपर्यायार्थिकः।

सादिनित्यपर्यायार्थिकः।

सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावाऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिकः।

सत्तासापेक्षः स्वभावाऽनित्याऽशुद्धपर्यायार्थिकः।

कर्मोपाधिनिरपेक्षः स्वभावाऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिकः।

कर्मोपाधिसापेक्षो विभावाऽनित्याऽशुद्धपर्यायार्थिकः।

भूतनैगमः। वर्तमाननैगमः। भाविनैगमः।

पर्यायार्थिकनय के छह भेद

१. अनादि-नित्य-पर्याय का ग्राहक **पर्यायार्थिकनय**।

२. सादि-नित्य पर्याय का ग्राहक **पर्यायार्थिकनय**।

३. सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय के ग्राहक स्वभाववाला **अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय**।

४. सत्ता की अपेक्षा सहित स्वभाववाला **अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिकनय**।

५. कर्म की उपाधि से निरपेक्ष स्वभाववाला **अनित्य-शुद्धपर्यायार्थिकनय**।

६. कर्म की उपाधि से सापेक्ष विभावरूप **अनित्य-अशुद्ध-पर्यायार्थिकनय**।

नैगमनय के तीन भेद

१. **भूतनैगमनय** २. **वर्तमाननैगमनय** ३. **भाविनैगमनय**।

शुद्धसंग्रहः। अशुद्धसंग्रहः।

शुद्धसंग्रहभेदकव्यवहारः। अशुद्धसंग्रहभेदकव्यवहारः।

सूक्ष्मर्जुसूत्रः, स्थूलर्जुसूत्रश्च।

- इत्येवमादया नयस्योत्तरोत्तरभेदाः।

(अनुष्टुभ्)

गौणं विधाय पर्यायं, द्रव्यं गृह्णाति यो नयः।
द्रव्यार्थिकः स विज्ञेयः, पर्यायार्थोऽन्यथा नयः॥ १॥

संग्रहनय के दो भेद

१. **शुद्धसंग्रहनय** २. **अशुद्धसंग्रहनय**

व्यवहार के दो भेद

१. **शुद्धसंग्रह-भेदक-व्यवहारनय**

२. **अशुद्धसंग्रह-भेदक-व्यवहारनय**

ऋजूसूत्रनय के दो भेद

१. **सूक्ष्मऋसूत्रनय** २.**स्थूलऋजुसूत्रनय**

[ध्यान रहे कि **शब्दनय, समभिरूढ़नय** और **एवंभूतनय** एक एक ही हैं, उनके कोई उत्तरभेद आगम में वर्णित नहीं हैं ।]

इस प्रकार नयों के भेद-प्रभेदों का वर्णन पूर्ण होता है। अब, उन **नयों का श्लोकों के द्वारा विशेष निरूपण** करते हैं -

हरिगीत

जो द्रव्य को ही ग्रहण करता, गौण कर पर्याय को।
जानो उसे द्रव्यार्थिक, पर्याय-अर्थी अन्य को।।१।।

दश द्रव्यार्थिके भेदाः, षट् पर्यायार्थिके मताः।
नैगमे तु त्रयः शेष-त्रिषु दौ द्वावुदाहृतौ ॥ २ ॥
कर्ममध्यस्थितं जीवं, शुद्धं गृह्णाति सिद्धवत्।
शुद्धद्रव्यार्थिको ज्ञेयः स नयो नयवेदिभिः ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ - जो नय, पर्याय को गौण करके द्रव्य को ग्रहण करता है, उसे **द्रव्यार्थिकनय** जानना चाहिए; इससे विपरीत जो नय, द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है, उसे **पर्यायार्थिकनय** जानना चाहिए।

द्रव्यार्थिक दश भेद पर्यायार्थिक छह भेद हैं।
तीन नैगम शेष त्रय के, भेद दो-दो जानिये ।। २ ।।

श्लोकार्थ - द्रव्यार्थिकनय के दश भेद हैं और पर्यायार्थिक -नय के छह भेद हैं। नैगमनय के तीन भेद हैं तथा संग्रहनय, व्यवहारनय एवं ऋजुसूत्रनय के दो-दो भेद बताये गये हैं। (शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूतनय एक एक हैं।)।

द्रव्यार्थिकनय के दश भेदों का स्वरूप

संसारियों को सिद्ध जैसा, शुद्धनय जो जानता।
शुद्धनय द्रव्यार्थिक, कहते उसे नयवेत्ता ।। ३ ।।

श्लोकार्थ - जो नय, कर्मों में स्थित [संसारी] जीव को सिद्धों के समान शुद्ध ग्रहण करता है; उसे नयों के वेत्ताओं ने **[कर्मोपाधि-निरपेक्ष] शुद्धद्रव्यार्थिकनय** कहा है।

उत्पाद-व्यय को गौण कर, जो ग्रहण सत्ता को करे।
सत्ताग्रही द्रव्यार्थिकनय - शुद्ध उसको बुध कहें ।। ४ ।।

कृत्वोत्पादव्ययौ गौणौ, सत्तां गृह्णाति यो नयः।
शुद्धद्रव्यार्थिकः सत्ता-, ग्राहको भण्यते बुधैः ॥ ४ ॥
गुणगुण्यर्थभेदे न, द्रव्यमंगीकरोति यः।
शुद्धद्रव्यार्थिको भेद-, कल्पनानिरपेक्षकः ॥ ५ ॥

भेदकल्पनानिरपेक्षश्चेत् कथमस्योपनयजनितत्त्वं। परज्ञताद्युप-चरितस्वभावस्य गौणत्वेन ग्राहकत्वात्।

रागद्वेषादिभावांश्च, यो जीवमिति भाषते।
सो हि द्रव्यार्थिकोऽशुद्धः, कर्मोपाधिसमन्वितः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ - जो नय, उत्पाद-व्यय, दोनों को गौण करके सत्ता को ग्रहण करता है; उसे बुद्धिमान पुरुषों के द्वारा **सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय** कहा है।

गुण-गुणी के भेद से भी, जो न द्रव्यों को लखे।
शुद्धनय द्रव्यार्थिक, निरपेक्ष भेद-विकल्प से ।। ५ ।।

श्लोकार्थ - जो नय, द्रव्य को गुण-गुणी के अर्थभेद सहित अङ्गीकार नहीं करता है; उसे **भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय** कहा है।

शंका - यदि यह नय, भेदकल्पना से निरपेक्ष है, तो फिर इस नय का उपनय से उत्पन्न होना कैसे सम्भव है?

समाधान - क्योंकि यह नय, परज्ञता आदि [परवस्तुओं को जानने से सम्बन्धित सर्वज्ञता आदि] उपचरित स्वभावों को भी गौणरूप से ग्रहण करता है।

राग-द्वेषादिक विभावों को कहे जो जीव है।
सापेक्ष-कर्मोपाधि-द्रव्यार्थिक-अशुद्धनय है यही ।। ६ ।।

त्रित्वमेकक्षणे द्रव्ये, सदुत्पादव्ययाद् वदेत्।
उत्पादव्ययसापेक्षो-, ऽशुद्धद्रव्यार्थिको नयः॥ ७॥

गुणगुण्यादिभेदं यः, कृत्वा सम्बन्धसूचकः।
स भेदकल्पनापेक्षो-, ऽशुद्धद्रव्यार्थिको नयः॥ ८॥

श्लोकार्थ – जो नय, राग-द्वेष आदि भावों को 'ये जीव हैं' – ऐसा कहता है; उसे **कर्मोपाधि-सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय** कहते हैं।

द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रुव, त्रित्व जो प्रतिक्षण लखे।
उत्पाद-व्ययसापेक्ष-द्रव्यार्थिक-अशुद्ध जानो उसे ।।७।।

श्लोकार्थ – जो नय, द्रव्य में सत्-उत्पाद-व्ययस्वरूप (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) के कारण एकसमय में त्रिलक्षण वाला कहता है; उसे **उत्पाद-व्यय-सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय** कहते हैं।

अथवा

जो नय, द्रव्य में उत्पाद-व्यय से युक्त सत्ता को देख कर, उसे एक समय में त्रिलक्षण वाला कहता है; उसे **उत्पाद-व्यय-सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय** कहते हैं।

गुण-गुणी का भेद कर, सम्बन्ध को सूचित करे।
सापेक्ष-भेदविकल्प-द्रव्यार्थिक-अशुद्धनय बुध कहे ।।८।।

श्लोकार्थ – जो नय, गुण-गुणी आदि का भेद करके उनकेसाथ द्रव्य का सम्बन्ध सूचित करता है; उसे **भेदकल्पना-सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय** कहते हैं।

पर्याय को जो द्रव्य कहता, देख अन्वयरूप से।
द्रव्यार्थिक अन्वय उसे, कहते सुवेत्ता नयों के ।।९।।

यः पर्यायादिकान् द्रव्यं, ब्रूते त्वन्वयरूपतः।
द्रव्यार्थिकः सोऽन्वयाख्यः, प्रोच्यते नयवेदिभिः॥ ९॥

स्वद्रव्यादिचतुष्कादे-, रस्तित्वं वक्ति वस्तुनो।
यो हि स्वद्रव्यादिग्राही, तद्विपरीतस्तु विपरीतः॥ १०॥

गृह्णाति वस्तुभावं, शुद्धाऽशुद्धोपचारपरिहीनं।
स परमभावग्राही, ज्ञातव्यः सिद्धिकामेन॥ ११॥

श्लोकार्थ – जो नय, अन्वयपने के कारण पर्यायों आदि को द्रव्य कहता है; उसे नयों के वेत्ताओं ने **अन्वयद्रव्यार्थिकनय** कहा है।

द्रव्यादि स्वचतुष्टय अपेक्षा, सत् लखे जो द्रव्य को।
द्रव्यादि स्वग्राहक वही, विपरीत उससे अन्य है ।।१०।।

श्लोकार्थ – जो नय, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु का अस्तित्व ग्रहण करता है; वह **स्वद्रव्यादि-ग्राहक द्रव्यार्थिकनय** है तथा जो नय, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु का नास्तित्व ग्रहण करता है; वह **परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय** है।

उपचार शुद्ध-अशुद्ध विरहित, जो निरखता तत्त्व को।
वह परमभावग्रही सुनय, जानो मुमुक्षुजन अहो ।।११।।

श्लोकार्थ – जो नय, वस्तु के भाव को शुद्ध, अशुद्ध और उपचार की विवक्षाओं से रहित ग्रहण करता है; वह **परमभाव-ग्राही [परमशुद्ध] द्रव्यार्थिकनय** है।

[इस परमभावग्राही [परमशुद्ध] द्रव्यार्थिकनय को

परमभावग्राहकश्चेत्कथमस्योपनयजनितत्त्वं। क्षायोपशमिकादि-विशेषज्ञानपर्यायस्य गौणत्वेन ग्राहकत्वात्।

मेरुधरादिमनादि-, नित्यमकृतकं हि वक्ति पर्यायं।
स नयोऽनादिनित्यः, पर्यायार्थो जिनेन्द्रोक्तः॥ १२॥

आदत्ते पर्यायं नित्यं, सादिं च कर्मणोऽभावात्।
स सादिनित्यपर्यायार्थिकनामा नयः स्मृतः॥ १३॥

मोक्ष के अभिलाषियों को शुद्धध्यान करने के प्रयोजन से अवश्य जानना चाहिए।]

शंका - यदि वह नय, परमभाव का ग्राहक है तो इसका उपनय से उत्पन्न होना कैसे सम्भव है?

समाधान - क्योंकि यह नय, क्षायोपशमिक आदि विशेष ज्ञानपर्यायों का भी गौणरूप से ग्राहक है।

पर्यायार्थिकनय के छह भेदों का स्वरूप

मेरु आदि अकृत्रिम - पर्याय को जो नय लखे।
वह है अनादि नित्य पर्यायार्थिकनय जिन कहें।। १२ ।।

श्लोकार्थ - जो नय, सुमेरु पर्वत आदि अनादिनित्य अकृत्रिम पर्यायों का कथन करता है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने **अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय** कहा है।

जो कर्म-विरहित सिद्ध की पर्याय सादि नित लखे।
वह सादि-नित-पर्याय-अर्थी-नय श्री जिनवर कहें।। १३ ।।

सत्तागौणत्वाद्यो, व्ययमुत्पादं च शुद्धमाचष्टे।
सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययवाचकः स नयः॥ १४॥

ध्रौव्योत्पादव्ययग्राही, कालेनैकेन यो नयः।
स्वभावाऽनित्यपर्याय-, ग्राहकोऽशुद्ध उच्यते॥ १५॥

पर्यायानंगिनां शुद्धात्, सिद्धानामिव यो वदेत्।
स्वभावनित्यशुद्धोऽसौ, पर्यायग्राहको नयः॥ १६॥

श्लोकार्थ - जो नय, समस्त कर्मों के अभावरूप सादि-नित्य सिद्धपर्याय को ग्रहण करता है, उसे **सादिनित्य पर्यायार्थिक -नय** जानना चाहिए।

सत् को करे जो गौण, जाने मात्र व्यय-उत्पाद को।
वह शुद्ध-पर्यायार्थिक, उत्पाद-व्ययग्राही अहो!।। १४ ।।

श्लोकार्थ - जो नय, सत्ता को गौण करके, मात्र शुद्ध उत्पाद-व्यय को ग्रहण करता है, वह **सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय का वाचक शुद्धपर्यायार्थिकनय** है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीन को जो, प्रतिसमय में जानता।
अशुद्ध-पर्यायार्थिक-ग्राहक अनित्य स्वभाव का।। १५ ।।

श्लोकार्थ - जो नय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य - तीनों को एक ही समय में ग्रहण करता है, वह **स्वभावरूप अनित्य पर्याय का ग्राहक अशुद्धपर्यायार्थिकनय** है।

संसारियों की दशा को जो, शुद्ध सिद्धों सम लखे।
स्वभाव नित पर्यायग्राही, पर्याय शुद्धार्थी कहो।। १६ ।।

अशुद्धाऽनित्यपर्यायान्, कर्मजान् विवृणोति यः।
विभावाऽनित्यपर्याय-, ग्राहकोऽशुद्धसंज्ञकः॥ १७॥
निष्पन्नमिव यो भूयात्, अनिष्पन्नं च भाविवित्।
अप्रस्थेऽपि यथा प्रस्थो, भण्यते भाविनैगमः॥ १८॥

श्लोकार्थ – जो नय, [अशुद्ध]पर्यायों को धारण करने वाले, संसारी जीवों को सिद्धसमान शुद्ध कहता है; वह **स्वभावरूप नित्य पर्याय का ग्राहक शुद्धपर्यायार्थिकनय** है।

जो कर्मजन्य अशुद्ध और अनित्य पर्यय को लखे।
विभाव क्षणवर्ती गहे, रे ! अशुद्ध पर्यायार्थिक।।१७।।

श्लोकार्थ – जो नय, कर्मनिमित्तक अनित्य अशुद्ध पर्यायों को ग्रहण करता है; वह **विभावरूप अनित्य पर्याय का ग्राहक अशुद्धपर्यायार्थिकनय** है।

नैगमनय के तीन भेदों का स्वरूप

पर्याय जो होंगी उन्हें, हो गई जैसी जानता।
अप्रस्थ को भी प्रस्थ जाने, भावि-नैगम-नय कहा।।१८।।

श्लोकार्थ – जो नय, भविष्यकाल में निष्पन्न होने वाली अनिष्पन्न पर्यायों को ग्रहण करता है; उसे **भाविनैगमनय** कहते हैं। जैसे, अनिष्पन्न अवस्था में अप्रस्थ को प्रस्थ[१] कहना।

पर्याय जो हो चुकी उनको, वर्तती है जानता।
सद्भूत-नैगम-नय कहें, ज्यों 'वीर का निर्वाण है' ।।१९।।

---

१. *पहले अनाज तौलने के किसी माप को **प्रस्थ** कहते थे।*

येन भूता क्रियालोके, क्रिया ते वर्तमानिका।
सद्भूतनैगमः ख्यातो, यथा वीरोऽध निर्वृतः॥ १९॥
क्रियां पाकविहारादि-, मसिद्धां वर्तमानिकां।
निष्पन्नामिव यो ब्रूयाद्, वर्तमानः स नैगमः॥ २०॥
परस्पराऽविरोधेन, सर्वमस्तीति संग्रहः।
शुद्धोऽशुद्धतस्सिद्धिः, तथा जातिविवक्षया।॥ २१॥

श्लोकार्थ – जो नय, भूतकाल में सम्पन्न क्रियाओं को वर्तमान में सम्पन्न बताता है; उसे **भूतनैगमनय या सद्भूत-नैगमनय** कहते हैं। जैसे, आज [दीपावली के दिन] भगवान महावीर का निर्वाण हुआ है।

भोजनादिक कार्य जो, गतिमान हैं वर्तमान में।
वर्तमान-नैगम-नय यही, कहता कि 'वह तो हो गया' ।।२०।।

श्लोकार्थ – जो नय, वर्तमानकाल में प्रारम्भ कर दी गई अनिष्पन्न भोजन पकाने आदि की क्रियाओं में निष्पन्न क्रियाओं के समान व्यवहार करता है; उसे **वर्तमाननैगमनय** कहते हैं। जैसे, अधपके भोजन की अवस्था में 'भोजन पक गया' – ऐसा कहना।

संग्रहनय के दो भेदों का स्वरूप

शुद्ध-संग्रह-नय सभी के, सत्त्व को ही जानता।
अशुद्ध-संग्रह-नय कि जिसमें, जाति की है विवक्षा।।२१।।

श्लोकार्थ – जो नय, परस्पर अविरोधभाव से सब पदार्थों के अस्तित्व को ग्रहण करता है; वह **शुद्धसंग्रहनय** कहलाता है

यः संग्रहग्रहीताऽर्थे, शुद्धाऽशुद्धे विभेदकः।
शुद्धाऽशुद्धाऽभिधानेन, व्यवहारो द्विधा मतः॥ २२॥

द्रव्ये गृह्णाति पर्यायं, ध्रुवं समयमात्रिकं।
ऋजुसूत्राऽभिधः सूक्ष्मः, स सर्वं क्षणिकं यथा॥ २३॥

तथा जाति की विवक्षा करने पर **अशुद्धसंग्रहनय** की सिद्धि होती है। [जैसे, **शुद्धसंग्रहनय** से सर्व पदार्थ सन्मात्र हैं तथा **अशुद्ध-संग्रहनय** से सब जीव चिन्मात्र हैं। इन दोनों नयों को ही क्रमशः **सामान्यसंग्रहनय** और **विशेषसंग्रहनय** भी कहते हैं।]

व्यवहारनय के दो भेदों का स्वरूप

शुद्ध और अशुद्ध संग्रह से गृहीत पदार्थ में।
भेदग्राही शुद्ध और अशुद्ध है व्यवहारनय।।२२।।

श्लोकार्थ – जो नय, शुद्ध और अशुद्ध – दोनों प्रकार के संग्रहनयों से गृहीत पदार्थ में विशेष कारणों से भेद करता है; उसे दो प्रकार वाला **शुद्ध और अशुद्ध व्यवहारनय** जानना चाहिए।

ऋजुसूत्रनय के दो भेदों का स्वरूप

द्रव्य की इक समयवर्ती, ध्रुव अवस्था को लखे।
सूक्ष्म-नय-ऋजुसूत्र कहता, 'द्रव्य सब ही क्षणिक हैं'।।२३।।

श्लोकार्थ – जो नय, द्रव्य में एक समय मात्र की ध्रुव पर्याय को ग्रहण करता है; उसे **सूक्ष्मऋजुसूत्रनय** कहते है। जैसे, सर्व पदार्थ क्षणिक हैं।

यो नराऽदिकपर्यायं, स्वकीयस्थितिवर्तनं।
तावत्कालं तथाऽचष्टे, स्थूलाऽख्यऋजुसूत्रकः॥ २४॥

य एकाऽर्थेप्यनेकार्थान्, ब्रूते लिंगादियोगतः।
शब्दान् शब्दनयोऽभीष्टः, पुष्यार्थे तारकादिवत्॥ २५॥

परस्परं समाऽऽरूढो, यत्र शब्दाऽर्थगोचरौ।
समभिरूढ़कस्तत्र, पौरश्चाऽऽर्येन्द्रशब्दवत्॥ २६॥

आयु-थिति पर्यन्त नर-सुर, आदि सब पर्याय को।
उतने समय तक जानता, स्थूल-नय-ऋजुसूत्र जो।।२४।।

श्लोकार्थ – जो नय, अपनी-अपनी आयु की स्थिति वाली मनुष्य आदि पर्यायों को मात्र उतने समय तक ग्रहण करता है; उसे **स्थूलऋजुसूत्रनय** कहते हैं।

शब्दनय का स्वरूप

एकार्थवाची शब्द बहु लिंगादि भेदों से कहे।
शब्दनय से कहें ज्यों, नक्षत्र तारक पुष्य को।।२५।।

श्लोकार्थ – जो नय, लिंगादि के भेद होने पर एक अर्थ के वाचक अनेकार्थक शब्दों को कहता है; उसे **शब्दनय** कहते हैं। जैसे, पुष्य अर्थ को बताने वाले नक्षत्र तारकआदि शब्द।

समभिरूढ़नय का स्वरूप

शब्द एवं अर्थ को, आरूढ़ आपस में करे।
समभिरूढ़ कहें यही नय, आर्य इन्द्रादिक यथा।।२६।।

श्लोकार्थ – जो नय, शब्द और अर्थ को परस्पर में समारूढ़ करता है अर्थात् शब्द को अर्थारूढ़ और अर्थ को शब्दारूढ़ करता

यद्येन क्रियते कर्म, नाम तेनैव तद्भवेत्।
एवंभूतो नयः स स्यात्, नर्तकी पावकादिवत्॥ २७॥

नैगमादित्रयो भेदाः, द्रव्यार्थिकनयस्य ते।
ऋजुसूत्रादिका शेषाः, पर्यायार्थिकसंगताः॥ २८॥

है; वह **समभिरूढ़** कहलाता है। जैसे, अन्यमताबलम्बियों के द्वारा आर्य, इन्द्र आदि शब्दों के रूढ़ अर्थ माने गये हैं।

एवंभूतनय का स्वरूप

कार्य जब जो किया जाए, तभी वैसा जो कहे।
यही एवंभूतनय ज्यों, 'जल रही वह अग्नि है' ।। २७ ।।

श्लोकार्थ – जो नय, जिसके द्वारा जो कर्म किया जाता है, उसे उसी नाम से कहता है; उसे **एवंभूतनय** कहते हैं। जैसे, किसी को नृत्य करते समय नर्तकी कहना, अथवा जलते समय ही पावक आदि शब्दों का व्यवहार करना।

नयों के सम्बन्ध में विशेष कथन

नैगमादिक तीन नय हैं, भेद द्रव्यार्थिक कहे।
शेष ऋजुसूत्रादि हैं चउ, भेद पर्यायार्थि के ।। २८ ।।

श्लोकार्थ – नैगम, संग्रह और व्यवहार – ये तीनों भेद, **द्रव्यार्थिकनय** के हैं तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत – ये चारों भेद, **पर्यायार्थिकनय** के हैं।

अर्थनय के भेद जानो, नैगमादिक चार नय।
शब्दनय के भेद हैं, शब्दादि अन्तिम तीन नय ।। २९ ।।

अर्थप्रधानकास्तत्र, चत्वारो नैगमादयः।
शब्दप्रधानकास्त्वन्ये, गीयन्ते नयवेदिभिः॥ २९॥

भूतार्थज्ञापनात्सर्वे, भूतप्रज्ञापनाः नयाः।
भाव्यार्थज्ञापनादेवं, भाविप्रज्ञापना स्मृताः॥ ३०॥

द्रव्यार्थेन चरतीति द्रव्यार्थिकः।

पर्यायार्थेन चरतीति पर्यायाथिकः।

श्लोकार्थ – नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र – ये चारों भेद **अर्थप्रधान नय** के हैं तथा शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत – ये तीनों भेद, **शब्दप्रधान नय** के हैं।

गतकालवर्ती अर्थ कहता, भूतप्रज्ञापन सुनय।
भाविवर्ती अर्थ जाने, भाविप्रज्ञापन सुनय ।। ३० ।।

श्लोकार्थ – जब ये नय, भूतकाल के अर्थ का ज्ञान कराते हैं, तब इन्हें **भूतप्रज्ञापन नय** कहते हैं तथा जब ये भविष्यकाल के अर्थ का ज्ञान कराते हैं, तब इन्हें **भाविप्रज्ञापन नय** जानना चाहिए।

प्रत्येक नय का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

जो नय, द्रव्य की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है, वह **द्रव्यार्थिकनय** है।

जो नय, पर्याय की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है, वह **पर्यायार्थिकनय** है।

शुद्धद्रव्यार्थेन चरतीति शुद्धद्रव्यार्थिकः।

अशुद्धद्रव्यार्थेन चरतीति अशुद्धद्रव्यार्थिकः।

अन्वयद्रव्यार्थेन चरतीति अन्यवद्रव्यार्थिकः।

स्वद्रव्यादीनि गृह्णातीति स्वद्रव्यादिग्राहकः।

परद्रव्यादीनि गृह्णातीति परद्रव्यादिग्राहकः।

परमं पारिणामिकस्वभावं गृह्णातीति परमभावग्राहकः।

जो नय, शुद्धद्रव्य की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है, वह **शुद्धद्रव्यार्थिकनय** है।

जो नय, अशुद्धद्रव्य की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है, वह **अशुद्धद्रव्यार्थिकनय** है।

जो नय, अन्वयरूप से विद्यमान द्रव्य की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है, वह **अन्वय द्रव्यार्थिकनय** है।

जो नय, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मुख्यता से वस्तु के अस्तित्व को ग्रहण करता है, वह **स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय** है।

जो नय, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मुख्यता से वस्तु के नास्तित्व को ग्रहण करता है, वह **परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय** है।

जो नय, परम पारिणामिकस्वभाव की मुख्यता से आत्मवस्तु को ग्रहण करता है, वह **परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय** है।

अनादिनित्यपर्यायार्थेन चरतीत्यनादिनित्यपर्यायार्थिकः।

सादिनित्यपर्यायार्थेन चरतीति सादिनित्यपर्यायार्थिकः।

शुद्धपर्यायार्थेन चरतीति शुद्धपर्यायार्थिकः।

अशुद्धपर्यायार्थेन चरतीति अशुद्धपर्यायार्थिकः।

भूतमर्थमनुगच्छतीति भूतनैगमः।

भाव्यर्थमनुगच्छतीति भाविनैगमः।

वर्तमानार्थमनुगच्छतीति वर्तमाननैगमः।

जो नय, अनादिनित्य पर्याय की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है; वह **अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय** है।

जो नय, सादिनित्य पर्याय की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है, वह **सादिनित्य पर्यायार्थिकनय** है।

जो नय, शुद्धपर्याय की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है, वह **शुद्धपर्यायार्थिकनय** है।

जो नय, अशुद्धपर्याय की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है, वह **अशुद्धपर्यायार्थिकनय** है।

जो नैगमनय, भूतकाल के पदार्थ का अनुसरण करता है, उसे **भूतनैगमनय** कहते हैं।

जो नैगमनय, भविष्यकाल के पदार्थ का अनुसरण करता है, उसे **भाविनैगमनय** कहते हैं।

जो नैगमनय, वर्तमानकाल के पदार्थ का अनुसरण करता है, उसे **वर्तमाननैगमनय** कहते हैं।

शुद्धमर्थं संगृह्णातीति शुद्धसंग्रह।

अशुद्धमर्थं संगृह्णातीति अशुद्धसंग्रहः।

शुद्धसंग्रहार्थं भेदयतीति शुद्धसंग्रहभेदको व्यवहारः।

अशुद्धसंग्रहार्थं भेदयतीत्यशुद्धसंग्रहभेदको व्यवहारः।

सूक्ष्मपर्यायं ऋजुसूत्रयतीति सूक्ष्मऋजुसूत्रः।

स्थूलपर्यायं ऋजुसूत्रयतीति स्थूलऋजुसूत्रः।

शब्दाश्रयत्वाच्छब्दः।

जो संग्रहनय, शुद्ध अर्थ का संग्रह करता है, उसे **शुद्धसंग्रह-नय** कहते हैं।

जो संग्रहनय, अशुद्ध अर्थ का संग्रह करता है, उसे **अशुद्ध-संग्रहनय** कहते हैं।

जो व्यवहारनय, शुद्धसंग्रहनय के विषयभूत अर्थ में भेद करता है, उसे **शुद्धसंग्रहभेदक व्यवहारनय** कहते हैं।

जो व्यवहारनय, अशुद्धसंग्रहनय के विषयभूत अर्थ में भेद करता है, उसे **अशुद्धसंग्रहभेदक व्यवहारनय** कहते हैं।

जो ऋजुसूत्रनय, सूक्ष्मपर्याय को सरलता से ग्रहण करता है, उसे **सूक्ष्मऋजुसूत्रनय** कहते हैं।

जो ऋजुसूत्रनय, स्थूलपर्याय को सरलता से ग्रहण करता है, उसे **स्थूलऋजुसूत्रनय** कहते हैं।

जो नय, शब्द का आश्रय करता है, वह **शब्दनय** है।

शब्दार्थयोः परस्परेणाऽभिरूढ़त्वात् समभिरूढः।

एवं क्रियाप्रधानत्वेन भवतीत्येवंभूतः।

नयभेदानां व्युत्पत्तिरियं।

आत्मन् उपसमीपे प्रमाणादीनां वा तेषामुपसमीपे नयति, इत्युपनयः।

उपनयस्तु मूलभेदेनैकः।

सद्भूतव्यवहारः, असद्भूतव्यवहारः, उपचरितव्यवहारः चोपनयस्योत्तरभेदाः।

जो नय, शब्द और अर्थ – दोनों को परस्पर अभिरूढ़ करता है, वह **समभिरूढ़नय** है।

जो नय, तात्कालिक क्रिया की प्रधानता करता है, वह **एवंभूतनय** है।

इस प्रकार **नयों के भेदों का व्युत्पत्तिपरक कथन** पूर्ण होता है।

उपनय का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद

जो आत्मा के अथवा प्रमाणादिक के अत्यन्त निकट पहुँचाता है, वह **उपनय** है।

मूलभेद की अपेक्षा **उपनय का एक ही प्रकार** है।

उत्तरभेद की अपेक्षा **उपनयों के तीन भेद** हैं – **सद्भूत-व्यवहार, असद्भूतव्यवहार** और **उपचरितव्यवहार।**

शुद्धसद्भूतव्यवहारः, अशुद्धसद्भूतव्यवहारः।

स्वजातीयाऽसद्भूतव्यवहारः, विजातीयाऽसद्भूत-व्यवहारः, स्वजाति-विजातीयाऽसद्भूतव्यवहारः।

स्वजातीयोपचरिताऽसद्भूतव्यवहारः, विजातीयोप-चरिताऽसद्भूतव्यवहारः, स्वजाति-विजातीयोपचरिता-ऽसद्भूतव्यवहारश्चेत्येवमादयः उपनयस्योत्तरोत्तरभेदाः।

गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारक-कारकिणोः संज्ञादिभेदाद् भेदकः सद्भूतव्यवहारः।

उपनयों के उत्तरभेदों के भी उत्तरभेद निम्न प्रकार हैं –

सद्भूतव्यवहार के दो भेद – शुद्ध-सद्भूतव्यवहार और अशुद्ध-सद्भूतव्यवहार।

असद्भूतव्यवहार के तीन भेद – स्वजातीय-असद्भूत-व्यवहार, विजातीय-असद्भूतव्यवहार और स्वजातीय-विजातीय-असद्भूतव्यवहार।

उपचरितव्यवहार के तीन भेद – स्वजातीय-उपचरित-असद्भूतव्यवहार, विजातीय-उपचरित- असद्भूतव्यवहार और स्वजातीय-विजातीय-उपचरित-असद्भूत-व्यवहार।

सद्भूतव्यवहार

जो उपनय, गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायवान्, स्वभाव-स्वभाववान्, तथा कारक-कारकवान् में संज्ञा, आदि की अपेक्षा भेद करता है, वह **सद्भूतव्यवहार** है।

शुद्धेऽर्थे सद्भूतः शुद्धसद्भूतः। अशुद्धेऽर्थे सद्भूतः अशुद्धसद्भूतः।

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्याऽन्यत्राऽरोपणमसद्भूतव्यवहारः।

द्रव्ये द्रव्योपचारः, गुणे गुणोपचारः, पर्याये पर्यायोपचारः। द्रव्ये गुणोपचारः, पर्यायोपचारश्च। गुणे द्रव्योपचारः, पर्यायोप-चारश्च। पर्याये द्रव्योपचारो, गुणोपचारश्च।

यह उपनय, जब शुद्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब **शुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय** कहलाता है तथा जब अशुद्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब **अशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनय** कहलाता है।

असद्भूतव्यवहार

अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र आरोपण करने वाला असद्भूत-व्यवहार है। जैसे –

१. द्रव्य में द्रव्य का उपचार (आरोपण) करना;

२. गुण में गुण का उपचार (आरोपण) करना;

३. पर्याय में पर्याय का उपचार (आरोपण) करना।

४. द्रव्य में गुण का उपचार (आरोपण) करना;

५. द्रव्य में पर्याय का उपचार (आरोपण) करना।

६. गुण में द्रव्य का उपचार (आरोपण) करना;

७. गुण में पर्याय का उपचार (आरोपण) करना।

८. पर्याय में द्रव्य का उपचार (आरोपण) करना;

९. पर्याय में गुण का उपचार (आरोपण) करना।

असद्भूतव्यवहारेण चाऽर्थाः सम्बद्धाः उपचरितव्याः। संश्लेष-सम्बन्धः, परिणाम-परिणामि-सम्बन्धः, श्रद्धान-श्रद्धेय-सम्बन्धः, ज्ञान-ज्ञेय-सम्बन्धः, चर्य-चारित्र-सम्बन्धश्चेत्येवमादयः।

विजातिद्रव्ये विजातिद्रव्याऽऽरोपणाऽसद्भूतव्यवहारो, यथा –

शरीरमपि यो जीवं, प्राणिनो वदन्ति स्फुटं।
असद्भूतो विजातीयो, ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः॥ ३१॥

विजातिगुणे विजातिगुणाऽऽरोपणाऽसद्भूतव्यवहारो, यथा –

उपचरितव्यवहार

असद्भूतव्यवहार से सम्बद्ध पदार्थ उपचार के योग्य होते हैं; जैसे – १. सश्लेष सम्बन्ध, २. परिणाम–परिणामी सम्बन्ध, ३. श्रद्धान्–श्रद्धेय सम्बन्ध, ४. ज्ञान–ज्ञेय सम्बन्ध, ५. चारित्र–चर्य (चारित्र–चारित्रेय) सम्बन्ध इत्यादि।

असद्भूतव्यवहार के कतिपय उदाहरण

१. विजातीय द्रव्य में विजातीय द्रव्य का आरोपण करनेवाले असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं। जैसे –

प्राणियों की देह को जो नय कहे 'यह जीव है'।
असद्भूत-विजाति-नय-व्यवहार यह मुनिजन कहें।। ३१।।

श्लोकार्थ – जो नय, प्राणियों के शरीर को ही जीव कहता है, वह **(उक्त) विजातीय असद्भूतव्यवहारनय** है – ऐसा मुनिजनों के वाक्य–प्रयोगों में जानना चाहिए।

मूर्तमेवमिति ज्ञानं, कर्मणा जनितं यतः।
यदि नैव भवेन्मूर्तं, मूर्तेन स्खलितं कुतः॥ ३२॥

स्वजातिपर्याये स्वजातिपर्यायाऽऽरोपणाऽसद्भूव्यवहारो, यथा –

प्रतिबिम्बं समालोक्य, यस्य चित्रादिषु स्थितं।
तदेव तच्च यो ब्रूयादसद्भूतो ह्युदाहृतः॥ ३३॥

स्वजातिद्रव्ये स्वजातिविजातिगुणाऽऽरोपणाऽसद्भूतव्यवहारो, यथा –

---

२. विजातीय गुण में विजातीय गुण का आरोपण करनेवाले असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं। जैसे –

'मूर्त है यह ज्ञान', क्योंकि कर्म से उत्पन्न है।
अन्यथा यह ज्ञान क्यों, स्खलित होता मूर्त से।। ३२।।

श्लोकार्थ – यह ज्ञान मूर्त ही है क्योंकि मूर्तकर्म से उत्पन्न हुआ है। यदि यह मूर्त न हो तो मूर्तकर्म के कारण स्खलित कैसे हो सकता है?। [– ऐसा **(उक्त) असद्भूतव्यवहार** है।]

३. स्वजातीय पर्याय में स्वजातीय पर्याय का आरोपण करनेवाले असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं। जैसे –

चित्रादि में बनता हुआ, प्रतिबिम्ब कोई देख कर।
'यह वही' कहता स्वजाति-असद्भूत-व्यवहार-नय।। ३३।।

श्लोकार्थ – जो नय, चित्र आदि में स्थित किसी के प्रतिबिम्ब को देख कर यह कहता है कि 'यह वही है' – यह **(उक्त) असद्भूत-व्यवहारनय** का उदाहरण है।

जीवाऽजीवमपि ज्ञेयं, ज्ञानं ज्ञानस्य गोचरात्।
उच्यते येन लोकेस्मिन्, सोऽसद्भूतो निगद्यते॥ ३४॥

स्वजातिद्रव्ये स्वजातिविभावपर्यायाऽऽरोपणाऽसद्भूतव्यवहारो, यथा –

अणुरेकप्रदेशोऽपि, येनाऽनेकप्रदेशकः।
वाच्यो भवेदसद्भूतो, व्यवहारः स भण्यते॥ ३५॥

स्वजातिगुणे स्वजातिद्रव्याऽऽरोपणाऽसद्भूतव्यवहारो, यथा –

---

४. स्वजातीय द्रव्य में स्वजातीय-विजातीय गुण का आरोपण करनेवाले असद्भूतव्यवहार का स्वरूप कहते हैं –

'ज्ञानगोचर ज्ञेय जीव - अजीव सब ही ज्ञान है'।
लोक में यह कहा जाता, असद्भूत व्यवहार से ।।३४।।

श्लोकार्थ – जो नय, लोक में जीव-अजीवरूप सर्व ज्ञेयपदार्थ ज्ञान हैं – ऐसा कहता है क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं – इस प्रकार कथन करने वाला **(उक्त) असद्भूतव्यवहार** है।

५. स्वजातीय द्रव्य में स्वजातीय विभावपर्याय का आरोपण करने वाले असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं –

इक प्रदेशी अणु को जो, बहुप्रदेशी जानता।
असद्भूत-व्यवहार-नय का, वाच्य इसको है कहा।।३५।।

श्लोकार्थ – जो नय, एकप्रदेशी अणु को अनेकप्रदेशी (बहुप्रदेशी) कहता है; वह **(उक्त) असद्भूतव्यवहारनय** का कथन है।

स्वजातीयगुणे द्रव्यं, स्वजातेरुपचारतः।
रूपं च द्रव्यामाख्याति, श्वेतः प्रासाद को यथा॥ ३६॥

स्वजातिगुणे स्वजातिपर्यायाऽऽरोपणाऽसद्भूतव्यवहारो, यथा –

ज्ञानमेव हि पर्यायं, पर्याये परिणामिवत्।
गुणोपचार पर्यायो, व्यवहारो वदत्यसौ॥ ३७॥

---

६. स्वजातीय गुण में स्वजातीय द्रव्य का आरोपण करने वाले असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं। जैसे –

गुण में करे उपचार, उसकी जाति के ही द्रव्य का।
रूप को ही द्रव्य कहता, यथा 'यह गृह श्वेत है' ।।३६।।

श्लोकार्थ – जो नय, रूप-रंग को द्रव्य कहता है; जैसे, सफेद मकान – ऐसा कहना। यह **स्वजातीय गुण में स्वजातीय द्रव्य का उपचार होने पर असद्भूतव्यवहारनय** का कथन कहलाता है।

७. स्वजातीय गुण में स्वजातीय पर्याय का आरोपण करने वाले असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं। जैसे –

ज्ञान परिणमता अतः वह 'ज्ञान ही पर्याय है'।
गुण में करे पर्याय का आरोप यह व्यवहार है ।।३७।।

श्लोकार्थ – जो नय, ज्ञान का पर्यायरूप में परिणमन होता हुए देख कर, ज्ञान को ही पर्याय कहता है। यह **गुण में पर्याय का आरोपण करने वाला असद्भूतव्यवहारनय** का कथन जानना चाहिए।

स्वजातिविभावपर्याये स्वजातिद्रव्याऽऽरोपणाऽसद्भूतव्यवहारो, यथा –

उपचारो हि पर्याये, येन द्रव्यस्य सूच्यते।
असद्भूतः समाख्यातः, स्कन्धेऽपि द्रव्यता यथा॥ ३८॥

स्वजातिपर्याये स्वजातिगुणाऽऽरोपणाऽसद्भूतव्यवहारो, यथा –

यो दृष्ट्वा देहसंस्थान-, माचष्टे रूपमुत्तमं।
व्यवहारो ह्यसद्भूतः, स्वजातीयसंज्ञकः॥ ३९॥

---

८. स्वजातीय विभावपर्याय में स्वजातीय द्रव्य का आरोपण करने वाले असद्भूतव्यवहार का स्वरूप कहते हैं–

द्रव्य का उपचार जो, पर्याय में करके कहे।
व्यवहारनय असद्भूत कहता -'स्कन्ध को यह द्रव्य है'॥३८॥

श्लोकार्थ – जो नय, 'स्कन्ध में भी द्रव्यता है' – ऐसा कहता है। इस प्रकार **विभाव पर्याय में द्रव्य का उपचार करने वाले असद्भूत-व्यवहारनय** का कथन समझना चाहिए।

९. स्वजातीय पर्याय में स्वजातीय गुण का आरोपण करने वाले असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप कहते हैं। जैसे –

देह का आकार लख कर, कहे उत्तम रूप है।
व्यवहारनय असद्भूत यह स्वजाति नामक बुध कहें॥३९॥

श्लोकार्थ – जो नय, शरीर के उत्कृष्ट आकार-प्रकार को देख कर 'कैसा उत्तम शरीर है' – इस प्रकार कथन करता है; वह स्वजातीय संज्ञक **(उक्त) असद्भूतव्यवहारनय** है।

उपचारादप्युपचारः यः करोति, स उपचरिताऽसद्भूतव्यवहारः, स च सत्यासत्योभयार्थेन त्रिधा, यथा –

देशानाथो यथा देशे, जातो यथार्थनायकः।
देशाऽर्थी जल्पमानो मे, सत्याऽसत्योभयार्थकः॥ ४०॥

पुत्रमित्रकलत्रादि, ममैतदहमेव वा।
वदन्नेवं भवत्येषो-, ऽसद्भूतो ह्युपचारवान्॥ ४१॥

उपचरित-असद्भूतव्यवहार

जो उपचार में भी उपचार करता है, वह उपचरित-असद्भूत-व्यवहार है, वह सत्य, असत्य और उभय के भेद से तीन प्रकार का होता है।

राजा कहे 'यह देश मेरा', प्रजा भी ऐसा कहे।
राष्ट्र, धन मेरा कहे, सदसद्-उभय उपचार है॥४०॥

श्लोकार्थ – जैसे, जब देश का स्वामी कहता है कि 'यह देश मेरा है', तब यह **सत्य-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** का कथन कहलाता है। लेकिन जब देश को कोई व्यक्ति कहता है कि 'यह देश मेरा है', तब यह **असत्य-उपचरित-असद्भूतव्यवहार-नय** का कथन कहलाता है। इसी प्रकार जब देश की सम्पत्ति को देख कर कोई कहता है कि 'यह देश की सम्पत्ति मेरी है', तब यह **सत्यासत्य (उभय) उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** का कथन जानना चाहिए।

'सुत-मित्र-नारी आदि मेरे, और मैं इन रूप हूँ'।
जो कहे ऐसा उपचरित - असद्भूत वह उपचार है॥४१॥

हेमाभरणवस्त्रादि, ममेदं यो हि भाषते।
उपचारादसद्भूतो, विद्वद्भिः परिभाषितः॥ ४२॥
देशं दुर्गं च राज्यं च, गृह्यातीह ममेति यः।
उभयार्थोपचारत्वादसद्भूतोपचारकः ॥ ४३॥

श्लोकार्थ – जैसे, 'पुत्र, मित्र, स्त्री आदि मेरे हैं, अथवा ये मैं ही हूँ' – ऐसा कथन करनेवाला **स्वजातीय-उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय** है। **अथवा** 'पुत्र, मित्र, कलत्र आदि मेरे हैं अथवा ये मैं ही हूँ' – ऐसा कथन **स्वजातीय-संज्ञक सत्य-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** की अपेक्षा है।

वस्त्र, आभूषण तथा स्वर्णादि को अपना कहे।
उपचार है इसलिए यह, असद्भूत नय बुधजन कहे।।४२।।

श्लोकार्थ – 'सोना, आभूषण, वस्त्र आदि मेरे हैं' – ऐसा कथन करने वाला **विजातीय-उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** है। **अथवा** 'सोना, आभूषण, वस्त्र आदि मेरे हैं' – ऐसा कथन **विजातीय संज्ञक असत्य-उपचरित असद्भूतव्यवहारनय** की अपेक्षा है।

जो देश-गृह-राज्यादि को, 'ये हैं हमारे' यह कहे।
उभयार्थ में उपचार है, यह असद्भूत व्यवहार है।।४३।।

श्लोकार्थ – जो देश, दुर्ग (किला), राज्य आदि को ये मेरे हैं – इस प्रकार ग्रहण करता है, वह **स्वजातीय-विजातीय-असद्भूव्यवहारनय** है। ***अथवा*** जो देश, दुर्ग, राज्य आदि को 'ये मेरे हैं' – इस प्रकार ग्रहण करता है, वह **स्वजातीय-विजातीय संज्ञक सत्याऽसत्य उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय** है।

वस्तुनामादिषु क्षिपतीति निक्षेपः।

स तु नाम-स्थापना-द्रव्य-भावश्चतुर्विधः। तद्यथा –

जितो मोहरिपुर्यस्मात्, स्यान्नाम्नान्वर्थको जिनः।
अन्या याऽनन्ववर्थिकी संज्ञा, एवं नाम द्विधा मता॥ ४४॥

निक्षेप का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद

वस्तु को युक्तिमार्ग से नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव में क्षेपण करना अर्थात् अच्छी तरह स्थित करना ही **निक्षेप** कहलाता है।

उसके चार भेद हैं – **१. नामनिक्षेप, २. स्थापनानिक्षेप, ३. द्रव्यनिक्षेप और ४. भावनिक्षेप।**

(वीर छन्द)

मोह जीतने से जिन कहना, अन्वर्थिकी नाम निक्षेप।
अन्य तरह से नाम कथन, यह अनन्वर्थिकी नाम निक्षेप।।४४।।

श्लोकार्थ – **नामनिक्षेप** दो प्रकार का है – १. अन्वर्थिकी संज्ञा, २. अनन्वर्थिकी संज्ञा। जैसे, जिन्होंने मोहरूपी शत्रु को जीता है, वे जिन हैं – यह **अन्वर्थिकी संज्ञा** नामक **नामनिक्षेप** है। इसके अलावा अन्यत्र **अनन्वर्थिकी संज्ञा** नामक **नामनिक्षेप** का कथन समझना चाहिए।

(तात्पर्य यह है कि जहाँ शब्दशः अर्थ का ज्ञान हो, वहाँ **अन्वर्थिकी संज्ञा** जानना चाहिए; जैसे, जो जीतते हैं, वे जिन हैं। तथा जहाँ शब्दशः अर्थ प्रतिपत्ति न हो, वहाँ **अनन्वर्थिकी संज्ञा** जानना चाहिए।)

अनाकारा च साकारा, स्थापना द्विविधा मता।
अघटित्वात्त्वनाकारा, ह्यकारा घटिता कृता॥ ४५॥

कर्मनोकर्मणोर्द्रव्य-, जीवत्वाद् द्रव्यसंज्ञक।
भावस्वरूपमेवोक्त:, स तु द्रव्यस्य साधक:॥ ४६॥

अनाकार - साकार भेद से, स्थापना दुविध जानो ।
प्रथम नहीं आकार कल्पना, घटित कल्पना इतर कहो।।४५।।

श्लोकार्थ – **स्थापनानिक्षेप** के दो भेद हैं – १. अनाकार-स्थापना, २. साकार-स्थापना। जहाँ आकार की कल्पना घटित नहीं होती, वहाँ **अनाकार-स्थापना** है। तथा जहाँ आकार की कल्पना घटित हो जाती है, वहाँ **साकार-स्थापना** है।

द्रव्य जीव, नोकर्म-कर्म हैं, इसे द्रव्यनिक्षेप कहा ।
उसका साधक भावरूप जो, उसे भावनिक्षेप कहा।।४६।।

श्लोकार्थ – कर्म तथा नोकर्म का द्रव्यजीवपना (व्यवहार से जीवपना) होने से वे **द्रव्यनिक्षेप** में समाविष्ट होते हैं। (इसके आगम और नो-आगम के भेद से दो प्रकार हैं, जिनके अनेक उत्तरभेद हैं; जो ग्रन्थान्तरों से जानने योग्य हैं।) तथा भाव ही है स्वरूप जिनका – ऐसा **भावनिक्षेप** है। **द्रव्यनिक्षेप का साधक भावनिक्षेप** है।

अतिनिर्मल अरु नित्य सुशोभित, जिसका बिम्ब प्रमाणस्वरूप।
मोह-तिमिर नाशक है जिसका, ज्ञानप्रभामय किरण-समूह।।

जिसने किया प्रकाशित जग में, अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप।
ऐसी निर्मल दृष्टि करे, मिथ्या व्यवहार-निशा निर्मूल।।४७।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

नित्यं यस्य विभाति निर्मलतरं, बिम्बं प्रमाणात्मकं;
यो नामामयभूरिभासुरकरो, मोहान्धकारापहः।
येनानेकविधोऽपि वस्तुनिचयो, नीतः प्रकाशं भृशं;
कुर्यान्नो व्यवहारभासुरनिशं, दृष्टिं प्रसन्नामसौ॥ ४७॥

इति श्री देवसेनभट्टारकविरचिते व्योमपण्डित-प्रतिबोधके श्रुतभवनदीपके नयचक्रे शुद्धिकथनो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ छ॥

श्लोकार्थ – जिसका प्रमाणात्मक बिम्ब, अत्यन्त निर्मल सुशोभित है; जो मोहरूपी अन्धकार को नाश करने के लिए भासुर अर्थात् दैदीप्यमान ज्ञानरूपी विपुल किरणों से युक्त है; जिसने अपने प्रकाश द्वारा अनेकान्तस्वरूप वस्तु-समूह को अच्छी तरह प्रकाशित किया है – ऐसे (मिथ्या) व्यवहाररूपी भासुर अर्थात् भयानक रात्रि को समाप्त करनेवाली दृष्टि (सम्यग्दृष्टि) हमें प्रसन्न करे अर्थात् हमारा कल्याण करे।

इस प्रकार श्रीमद् देवसेन भट्टारक विरचित व्योमपण्डित को प्रतिबोध करानेवाले '**श्रुतभवनदीपकनयचक्र**' में **व्यवहार-शुद्धि का कथन** करने वाला द्वितीय अध्याय पूर्ण होता है।

।। तृतीयोऽध्यायः ।।

निश्चय-व्यवहारयोरविनाभावित्व-निर्णीति-कथनः

यद्यपि मोक्षकार्ये भूतार्थेन परिच्छिन्नाऽऽत्माद्युपादान-कारणं भवति, तथापि सहकारिकारणेन विना न सेत्स्यतीति सहकारिकारणप्रसिद्ध्यर्थं निश्चयव्यवहारयोरविनाभावि-त्वामाह।

।। तृतीय अध्यायः ।।

निश्चय-व्यवहार के अविनाभावित्व का निर्णय

यद्यपि मोक्षरूपी कार्य की सिद्धि में भूतार्थ से जाने गये आत्मा आदि ही उपादान कारण हैं, तथापि सहकारी कारणों के बिना सिद्धि नहीं होती; अतः सहकारी कारण की प्रसिद्धि के लिए निश्चय-व्यवहार का अविनाभावीपना बताते हैं।

ननु यदि वस्तु, वस्तुतः कल्पनातीतं, तर्हि किमनया निश्चयव्यवहारकल्पनया?

मूढतालक्षणस्वभावनिरपेक्षा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र-रूपा मोहोदयेन सम्भूताऽसत्कल्पना, तन्निवृत्त्यर्थं सा निवेदिता।

निश्चयव्यवहारयोरुभयाऽनुभययोर्विमूढत्वान्मूढता-लक्षणा, तेषां चेत्थमेव श्रद्धानादिभिरग्रहणात् स्वभावनिरपेक्षा।

सम्यग्वस्तुसद्भावादन्यथारुचिर्मिथ्यादर्शनं, तदा तस्य परिज्ञानं मिथ्याज्ञानं, स्वकार्यविरुद्धा क्रिया मिथ्याचारित्रं।

शंका - यदि वस्तु, वास्तव में कल्पनातीत है तो इस निश्चय-व्यवहार की कल्पना से क्या लाभ है?

समाधान - जो मूढ़ता लक्षण वाली, स्वभाव-निरपेक्ष, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप और मोह के उदय से उत्पन्न होती है, वह **असत्कल्पना** कहलाती है, उसी की निवृत्ति के लिए यह निश्चय-व्यवहार की **कल्पना** या **सत्कल्पना** जिनागम में कही गई है।

यहाँ **असत्कल्पना** को निश्चय-व्यवहार और उसके उभय-अनुभय के सम्बन्ध में विशेषरूप से मूढ़ होने से वह **मूढ़तालक्षण** वाली है तथा उन्हीं के सम्बन्ध में 'यह इसी प्रकार है' - ऐसी सत्य श्रद्धा आदि का ग्रहण नहीं होने से वह **स्वभावनिरपेक्ष** भी है।

सम्यक् वस्तु के सद्भाव से अन्यथा रुचि, **मिथ्यादर्शन** है - ऐसी रुचि के साथ होने वाला ज्ञान, **मिथ्याज्ञान** है और अपने स्वकार्य से विरुद्ध क्रिया, **मिथ्याचारित्र** है।

कथमस्यास्तया निवृत्तिरिति चेत्?

सर्वस्याऽपि वस्तुसद्भावस्य तथा प्रतिपादनसामर्थ्यात्।

कल्पनातीतत्वात्कथं वस्तुनो सत्कल्पना?

वस्तु कल्पनातीतमिति यावत्कल्पना, सा कल्पना भवति न वा? यदि सा कल्पना भवति, तर्हि सम्यग्रूपा मिथ्यारूपा वा। अथवा न हि सा कल्पना भवति मिथ्यारूपाऽमिथ्यारूपा वा, कथं कल्पनातीतमर्थं द्योतयति। सम्यग्रूपा वा सत्प्रतिपक्षत्वादऽसत्याऽपि।

शंका – **सत्कल्पना** के द्वारा इस **असत्कल्पना** से निवृत्ति कैसे होती है?

समाधान – क्योंकि सर्व वस्तुओं के सद्भाव का **सत्कल्पना** के द्वारा ही प्रतिपादन सम्भव हो सकता है।

शंका – वस्तु तो कल्पनातीत है, फिर **सत्कल्पना** के द्वारा उसका प्रतिपादन कैसे सम्भव है?

समाधान – 'वस्तु कल्पनातीत है' – ऐसी जो कल्पना है, वह कल्पना है या नहीं? यदि वह कल्पना है तो सम्यक्रूप है या मिथ्यारूप? यदि वह कल्पना सम्यक्रूप या मिथ्यारूप कुछ भी नहीं है तो वह कल्पनातीत अर्थ का द्योतन (ज्ञान) भी कैसे करा सकती है? यदि वह कल्पना, सम्यक्रूप (सत्कल्पना) मानी जाती है तो प्रतिपक्ष से सहित होने से यह भी सिद्ध होता है कि कोई कल्पना मिथ्यारूप भी हो सकती है, अतः असत्कल्पना की भी स्वयमेव सिद्धि हो जाती है।

असत्कल्पनानिवृत्त्यर्थं चेद्व्यवहारः।

व्यवहारेणाऽप्यलं, स्याच्छब्दांकितेन निश्चयेन निरपेक्षता मा भवत्वस्य। 'तेन विना' इति स्याच्छब्देनाऽप्यस्य सापेक्षता, 'तेन सह' भविष्यत्याऽऽगामिकानामेव, तथापि किं पृथक्-करणेन, सत्यमतमेवाऽनेन मिश्रत्वं।

यत्नं निवार्य निश्चयस्य केवलस्य प्रसिद्ध्यर्थं हि तत् असावेवाऽर्थो भावनीयः, निश्चयात्सर्वथा भेदे व्यवहाराभासत्वं। सर्वथाऽभेदे निश्चयत्वं माऽभूदिति तस्य स्याद् भेदः।

शंका – क्या मात्र असत्कल्पना की निवृत्ति करने के लिए ही व्यवहार की आवश्यकता है?

समाधान – नहीं, ऐसे व्यवहार से भी बस होओ! क्योंकि व्यवहार की 'स्यात्' शब्द से अंकित निश्चय के साथ भी निरपेक्षता नहीं हो सकती। 'उसके बिना' (तेन विना) – ऐसे 'स्यात्' शब्द के द्वारा उसकी सापेक्षता सिद्ध होती है। 'उसके साथ' (तेन सह) – ऐसा आगामी के अन्य विषयों से भी सिद्ध होता है, अतः उन्हें पृथक् करने से क्या लाभ है? इसलिए निश्चय-व्यवहार के मिश्रपने को मानने में ही सत्यमत है।

इस प्रकार अन्यथापने को छोड़ कर, केवल निश्चय की प्रसिद्धि के लिए इसी प्रकार पदार्थों का स्वरूप विचार करना चाहिए क्योंकि निश्चय से सर्वथा भेद करने पर व्यवहार भी व्यवहारभासत्व को प्राप्त हो जाता है तथा उनमें सर्वथा अभेद मानने पर भी निश्चयनय का निश्चयत्व सिद्ध नहीं होता है, अतः निश्चय-व्यवहार में 'स्यात् भेद' ही मानना योग्य है।

वस्तुतः स्याद् भेदः कस्मान्न कृत?

इति नाऽऽशंकनीयं, यतो न तेन साध्यसाधकयोरविनाभावित्वं।

तद्यथा-निश्चयाऽविरोधेन व्यवहारस्य, सम्यग्व्यवहारेण सिद्धस्य निश्चयस्य च परमार्थत्वादिति।

परमार्थमुग्धानां व्यवहारिणां, व्यवहारमुग्धानां निश्चयवादिनां, उभयमुग्धानामनुभयवादिनामऽनुभयमुग्धानामुभयवादिनां मोहनिरासार्थं निश्चयव्यवहारभ्यामाऽऽलिंगितं कृत्वा वस्तु निर्णेयं।

शंका – निश्चय से 'स्यात् भेद' क्यों नहीं किया है?

समाधान – ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे साध्य-साधक का अविनाभावीपना सिद्ध नहीं होता है।

वही समझाते हैं – **निश्चय से अविरोधी व्यवहार का तथा सम्यक् व्यवहार से सिद्ध होने वाले निश्चय का ही परमार्थपना स्वीकार किया गया है।**

अतः परमार्थ के विषय में विमूढ़ (रहित) **एकान्त व्यवहारी**, व्यवहार के विषय में विमूढ़ **एकान्त निश्चयवादी**, निश्चय-व्यवहार, उभय के विषय में विमूढ़ **एकान्त अनुभयवादी** तथा निश्चय-व्यवहार, अनुभय के विषय में विमूढ़ **एकान्त उभयवादी** – इन सभी के मोह (मिथ्या अभिप्राय) का निराकरण करने के लिए निश्चय-व्यवहार से आलिंगित करके वस्तु का निर्णय करना चाहिए।

एवं हि कथंचिद्भेद-परस्पराऽविनाभावित्वेन निश्चय-व्यवहारयोरनाकुला सिद्धिः, अन्यथाऽऽभास एव स्यात्। तस्माद्-व्यवहारप्रसिद्ध्यैव निश्चयप्रसिद्धिर्नान्यथेति।

सम्यग्द्रव्यागमप्रसाधिततत्त्वसेवया व्यवहाररत्नत्रयस्य सम्यग्रूपेण सिद्धत्वात्, द्रव्यागमवस्तुतत्त्वप्रतिपादनाय प्रसिद्ध-बोधनिबन्धनत्वादुपपन्नः; अतो निश्चयव्यवहारयोस्तदर्थस्य च द्रव्यागमाख्या भवति, सा तु भावागमेत्यादिका परमा वास्तव-त्वाऽनुभूत्या यथा स्वभावानुभूता प्रकाश्यमानं सामान्य-विशेषात्मकं वस्तुतत्त्वं।

इस प्रकार कथंचित् भेद एवं परस्पर अविनाभावीपने के कारण निश्चय-व्यवहार की सहजता से अनाकुल सिद्धि होती है, अन्यथा उनका आभास (निश्चयाभास या व्यवहाराभास) ही होता है; अतः व्यवहार की प्रसिद्धि से ही निश्चय की प्रसिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

समीचीन द्रव्यागम (द्रव्यश्रुत) के आश्रय से सम्यक् प्रकार से सिद्ध किये हुए तत्त्व का सेवन करने से व्यवहार-रत्नत्रय की समीचीनरूप से सिद्धि होती है; इसलिए द्रव्यागम के द्वारा वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करना उपयुक्त ही है, क्योंकि उसी के द्वारा प्रसिद्ध बोध (सम्यग्ज्ञान या केवलज्ञान) की सिद्धि होती है – ऐसा आगमवचन है; इसलिए निश्चय-व्यवहारनयों की तथा उनके आश्रयभूत अर्थ की द्रव्यागम (द्रव्यश्रुत) संज्ञा कही गई है, उसके माध्यम से भावागम (भावश्रुत) आदिस्वरूप मूलभूत

तद्यथा – अस्तित्ववस्तुत्वद्रव्यत्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्व-प्रदेशत्वमिति स्वजातिविजातेः सामान्यगुणाः। चेतनत्वाऽमूर्तत्वमिति स्वजातेः सामान्यगुणाः। प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषां।

ज्ञानदर्शनसुखवीर्य-रूपरसगन्धस्पर्श-गतिहेतुत्व-स्थितिहेतुत्वाऽवगाहनाहेतुत्व-वर्तनाहेतुत्वमिति विशेषगुणः।

वास्तविक तत्त्व की अनुभूति होती है; उसे परमभावना, परमागम आदि नाम से कहा जाता है। इस वास्तविक स्वभाव की अनुभूति के द्वारा ही सामान्य-विशेषात्मक वस्तुतत्त्व प्रकाशित होता है।

अब, सामान्य-विशेषात्मक वस्तुतत्त्व का विस्तार से विचार करने के लिए **सामान्य-विशेष गुणों का वर्णन** करते हैं –

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व एवं सप्रदेशत्व – ये छह गुण, स्वजाति-विजाति सभी द्रव्यों के **सामान्य गुण** हैं तथा **चेतनत्व एवं अमूर्तत्व** (चेतनत्व-अचेतनत्व में से कोई एक तथा मूर्तत्व-अमूर्तत्व में से कोई एक) – ये दो गुण स्वजातीय द्रव्यों के **सामान्य गुण** हैं। इस प्रकार सभी द्रव्यों में प्रत्येक के आठ-आठ **सामान्य गुण** हैं।

ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श, गति-हेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनाहेतुत्व तथा वर्तनाहेतुत्व – ये (क्रमशः जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य के) **विशेष गुण** हैं।

अब, **संक्षेप में सामान्य गुणों का स्वरूप** निरूपित करते हैं –

अस्तित्वस्य भावोऽस्तित्वं, सीदति स्वकीयान् गुण-पर्यायान् व्याप्नोतीति सत्।

वस्तुनो भावो वस्तुत्वं, सामान्य-विशेषात्मकं वस्तु।

द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वं।

प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वं, प्रमाणेन परिच्छेद्यं प्रमेयं।

अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वं, सूक्ष्माऽवाग्गोचरा प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्या अगुरुलघवो गुणाः।

प्रदेशस्य भावः प्रदेशत्वं।

अस्तिपने का भाव, **अस्तित्व** है; जो अपने-अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त होता है, वही '**सत्**' कहलाता है।

वस्तुपने का भाव, **वस्तुत्व** है; जो सामान्य-विशेषात्मक है, वही '**वस्तु**' है।

द्रव्यपने का भाव, **द्रव्यत्व** है। (इसी कारण प्रत्येक वस्तु, '**द्रव्य**' कहलाती है।)

प्रमेयपने (ज्ञेयपने) का भाव, **प्रमेयत्व** है; जो प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है, वह '**प्रमेय**' है।

अगुरुलघुपने का भाव, **अगुरुलघुत्व** है; जो सूक्ष्म है, वचन-अगोचर है, प्रतिक्षण प्रवर्तमान है और आगमप्रमाण के द्वारा जानने योग्य हैं, वे **अगुरुलघुगुण** हैं।

प्रदेशपने का भाव, **प्रदेशत्व** है। (इसी कारण प्रत्येक वस्तु, में कोई न कोई आकार होता है।)

चेतनस्य भावश्चेतनत्वं, चैतन्यमनुभवनं।

अचेतनस्य भावोऽचेतनत्वमननुभवनं।

मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं, रूपादिमत्त्वं।

अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं, रूपादिरहितत्वं।

गुणव्युत्पत्तिः - गुण्यते, पृथक् क्रियते, द्रव्याद् द्रव्यं येनाऽसौ विशेषगुणः।

स्वभावविभावपर्यायरूपतया याति परिणमतीति पर्यायः, इति पर्यायव्युत्पत्तिः।

चेतनपने का भाव, **चेतनत्व** है; जो चैतन्यरूप अनुभवन है, वही चेतनत्व है।

अचेतनपने का भाव, **अचेतनत्व** है; जो चैतन्यरूप अनुभव का अभाव है, वही अचेतनत्व है।

मूर्तपने का भाव, **मूर्तत्व** है; जो रूपादिस्वरूप होना है, वही मूर्तत्व है।

अमूर्तपने का भाव **अमूर्तत्व** है; जो रूपादिरहित होना है, वही अमूर्तत्व है।

अब, **गुण की व्युत्पत्ति** के माध्यम से **विशेष गुण का निरूपण** करते हैं -

जिसके द्वारा प्रत्येक द्रव्य को अन्य द्रव्यों से पृथक् किया जाता है, उसे **विशेषगुण** कहते हैं।

पर्याय की व्युत्पत्ति इस प्रकार है -

सामान्यविशेषगुणाः एकस्मिन् धर्मणि वस्तुत्व-निष्पादकाः, तेषां परिणामः पर्यायः।

सहभुवो गुणाः। क्रमभाविनः पर्यायाः। गुणपर्ययवद् द्रव्यं।

तच्च जीवाद्याऽऽगमप्रमाणेन यथोक्तमार्गेण गृहीत्वा नामादिषु संस्थाप्य प्रमाणेन वाक्यतो व्यवह्रियमाणं तथा प्रकाशते।

नामादीनां मध्ये भावजीव एव वास्तवो जीवः।

कर्म-नोकर्मणोः द्रव्यजीवत्वं तस्यैवोपचारात्।

जो स्वभाव-विभाव पर्यायरूप से गमन करता है, परिणमन करता है; उसे **पर्याय** कहते हैं।

सामान्य-विशेष गुण, एक धर्मी में वस्तुत्व के निष्पादक होते हैं, उनके परिणाम को **पर्याय** कहते हैं।

सहभावी **गुण** होते हैं। क्रमभावी **पर्याय** होती है। गुण और पर्यायवान् **द्रव्य** होता है।

उन जीवादि पदार्थों को आगमप्रमाण के द्वारा यथोक्त मार्ग से ग्रहण करके उन्हें **नाम-स्थापना-द्रव्य-भावरूप चार निक्षेपों** में स्थापित करने पर तथा प्रमाणवाक्यों द्वारा उनका व्यवहार किये जाने पर वे प्रकाशित होते हैं। जैसे -

नाम आदि निक्षेपों में **भावजीव** ही वास्तव में जीव है।

उसी जीव के उपचार से कर्म और नोकर्म का **द्रव्यजीवत्व** कहा जाता है।

उपचरितस्याऽपि स्थापना स्थाप्यमानत्वात्।

त्रयाणामभिधानस्य नामत्वात्।

प्रमाणैः जीवति जीविष्यति जीवितो वा जीवः, भावः स्यादस्य गुणपर्यायो, स तु सत्तायाः सत्तास्वभावादऽविना-भावित्वेन सिद्धः। सत्तास्वभावः परिणामः। सः चोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकः।

ननूत्पादव्ययकवलितत्वात्कथं द्रव्यस्य सत्तालक्षणं।

(आर्या)

यदि न स्यात् सद्रूपं, तदसत् स्यात् द्रव्यता कथं।
तस्य क्षणिकत्वपक्षसत्त्वादिति हेतुस्ते कथं युक्तं॥ १॥

इसी प्रकार उपचरित होने पर भी स्थापना स्थापित करने योग्य है।

उक्त भाव-द्रव्य-स्थापना - इन तीन निक्षेपों की संज्ञाएँ या नाम तो नामनिक्षेप के ही विषय हैं क्योंकि वे भी तो नाम ही हैं।

वास्तव में जो प्रमाण के द्वारा जीवित था, जीवित है और जीवित रहेगा, वही जीव है; उसके गुण-पर्याय ही उसके भाव हैं तथा सत्ता का सत्तास्वभाव के साथ अविनाभावीपना होने से उसकी सत्ता सिद्ध है। सत्तास्वभाव अर्थात् परिणाम और वह परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

शंका - उत्पाद-व्यय से कवलित (ग्रसित अर्थात् युक्त) होने से द्रव्य का सत्तालक्षण कैसे स्थायी रह सकता है?

समाधान - इसके उत्तरस्वरूप निम्न श्लोक कहते हैं -

सद् द्रव्यं समवायादनवस्था तस्य तेन हि सत्त्वं।
तदसिद्धं समवायात्, तस्माद् द्रव्यं स्वतः सत्ता॥ २॥

ननु सत्तालक्षणं चेद् द्रव्यं, किमविनाभावित्वेन मानवदस्याः, केवलाश्रयत्वेन अव्याप्त्यादिदूषणं, एवं हि

(हरिगीतिका)

द्रव्य यदि सत् हो नहीं, द्रव्यत्व कैसे सिद्ध हो?।
क्षणिकत्व को ही मानने से द्रव्यता कैसे बने।। १।।

श्लोकार्थ १ - यदि सत्ता लक्षण वाला द्रव्य सत्रूप नहीं है तो वह असत् सिद्ध होता है; तब द्रव्य का द्रव्यत्व अर्थात् उसका स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है। यहाँ द्रव्यत्व से तात्पर्य उसके क्षणिकत्व पक्ष से नहीं है, क्योंकि वह युक्त नहीं है।

समवाय से यदि द्रव्य सत् है, दोष अनवस्था रहे।
समवाय से नहिं द्रव्य सत्, वह स्वयं सत्तारूप है।। २।।

श्लोकार्थ २ - समवाय से भी द्रव्य को सत्तारूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि उससे अनवस्था दोष का प्रसंग आता है, फिर उस समवाय को जोड़ने वाले अन्य समवाय की आवश्यकता होगी; इस प्रकार समवाय से द्रव्य को सत् मानना भी असिद्ध है; इसलिए द्रव्य को स्वयमेव स्वभाव से ही सत्ता लक्षण वाला मानना युक्तियुक्त है।

शंका - यदि द्रव्य का सत्तालक्षण स्वभाव से ही है तो सत्ता का द्रव्य के साथ अविनाभावीपना मानने से क्या तात्पर्य है? उससे तो केवलाश्रयी दोष आएगा, जिससे अव्याप्ति आदि लक्षण

लक्षण-निर्देशतया लक्ष्यप्रसिद्धिः, सा च लक्षणाभास-निराकृतौ।

तद्यथा, यथा केवलाऽन्वयवादी कार्यार्थी भवति, तदा सः कथं तस्य कार्यं समर्थयति, व्यतिरेकस्य निरपेक्षत्वात्।

अथ कदाचित् सोप्युपचारादस्तीति चेत्, तदा स तस्योपचर्यते स्वसिद्धान्तेष्ट्या परसिद्धान्तेष्ट्या वा।

स्वसिद्धान्तेष्ट्या चेत्, लक्षणस्याऽव्याप्तिदूषणं, क्वापि व्यतिरेकस्यापि सम्भवात्। अन्यथा चेदतिव्याप्तिः।

के दोष उत्पन्न हो जाएँगे; लेकिन लक्षण के सम्यक् निर्देश द्वारा ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है और वह लक्षणाभास के निराकरण करने पर ही हो सकती है।

समाधान - जैसे, केवल अन्वयवादी किसी कार्य को करने हेतु व्यतिरेक से निरपेक्ष होकर, उस कार्य को सम्पन्न कैसे कर सकता है ?

यदि उपचार आदि से किसी प्रकार व्यतिरेक का समर्थन कर भी लिया जाए तो भी वह उपचार, स्वसिद्धान्त के समर्थन में किया गया है या परसिद्धान्त के।

यदि स्वसिद्धान्त के समर्थन में माना जाए तो आपके द्वारा सम्मत केवलान्वय के लक्षण में अव्याप्ति दूषण आता है, क्योंकि आप भी कहीं कहीं पर व्यतिरेक की आवश्यकता का समर्थन कर रहे हैं। यदि परसिद्धान्त के समर्थन में माना जाए तो लक्षण में अतिव्याप्ति दूषण का प्रसंग आता है, क्योंकि आप स्वयं परसिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं।

सर्वत्राऽन्वयप्रसंगादेव समभवोप्यस्या-ऽविनाभावित्वेन लक्षणस्य निर्दोषता।

तद्यथा - यत्सत्तात्मकं, तदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं गुण-पर्यायात्मकं वा, व्यतिरेके त्वन्यथा।

यदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं, तत्सत्तात्मकं गुणपर्यायात्मकं च, व्यतिरेके त्वन्यथा।

यद्गुणपर्यायात्मकं, तदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत्तात्मकं च, व्यतिरेके त्वन्यथा।

अतः सर्वत्र ही अन्वय के प्रसंग में व्यतिरेक का होना भी आवश्यक है, क्योंकि उनके अविनाभावी होने पर ही लक्षण की निर्दोषता मानी जाती है।

जैसे - जो सत्तात्मक है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक और गुण-पर्यायात्मक है तथा व्यतिरेक की अपेक्षा जो गुण-पर्यायात्मक और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक नहीं है, वह सत्तात्मक भी नहीं है।

इसी तरह जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, वह सत्तात्मक और गुण-पर्यायात्मक है तथा व्यतिरेक की अपेक्षा जो सत्तात्मक और गुण-पर्यायात्मक नहीं है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक भी नहीं है।

इसी प्रकार जो गुण-पर्यायात्मक है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक और सत्तात्मक है तथा व्यतिरेक की अपेक्षा जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक और सत्तात्मक नहीं है, वह गुणपर्यायात्मक भी नहीं है।

वस्तु भवेत्तथ्यं, तदंशास्तु विकल्पतः स्याच्छब्देन हि वस्तुत्वं वदन्त्यमी, यतोंऽजसा वस्त्वंशास्त्वस्तित्वादयः।

अस्तिस्वभावः परमस्वभावश्चैते सामान्यस्वभावाः।

चेतनस्वभावोऽचेतनस्वभावो, मूर्तस्वभावोऽमूर्तस्वभावो, एकप्रदेशस्वभावोऽनेकप्रदेशस्वभावो, विभावस्वभावः, शुद्धस्वभावाः अशुद्धस्वभावः, उपचरितस्वभावश्चैते विशेषस्वभावाः।

द्रव्यस्वभावलाभादच्युतत्वादस्तित्वस्वभावं वदन्ति; परस्वरूपेणाऽभावत्वान्नास्तिस्वभावं।

वस्तु एक वास्तविक तथ्य है तथा वस्तु के अंश 'स्यात्' शब्द के द्वारा विकल्प से वस्तुतत्त्व कहलाते हैं। यही कारण है कि स्पष्टरूप से वस्तु के अंश अस्तित्वादिक कहे जाते हैं।

अस्तिस्वभाव और परमस्वभाव तो सामान्य स्वभाव हैं।

चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एकप्रदेशस्वभाव, अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव, अशुद्धस्वभाव और उपचरितस्वभाव – ये विशेष स्वभाव हैं।

अब आगे द्रव्य के उक्त स्वभावों के सम्बन्ध में और भी विशेष कहते हैं –

द्रव्य, अपने स्वरूपलाभ से कभी च्युत नहीं होता – ऐसा **अस्तित्वस्वभाव** कहा जाता है तथा परस्वरूपपने से अभाव होने से द्रव्य का **नास्तिस्वभाव** भी है।

निज-निजपर्यायेषु तदेवेदमिति द्रव्यस्योपलम्भान्नित्यस्वभावत्वं; तस्याऽप्यऽनेकपर्यायपरिणाममित्वादनित्यस्वभावत्वं।

भेदकल्पनानिरपेक्षत्वादेकस्वभावत्वं; भेदकल्पनासापेक्षत्वादनेकस्वभावत्वं।

भाविकाले स्वस्वभावभवनाद् भव्यस्वभावत्वं; कालत्रयेऽपि परस्वरूपेणाऽभवनादभव्यस्वभावत्वं।

पारिणामिकस्वभावप्रधानत्वेन परमस्वभावत्वं।

सामान्यस्वभावानां व्युत्पत्तिर्प्रदेशादिगुणव्युत्पत्तौ चेतनस्वभावानां व्युत्पत्तिर्वेदितव्या।

अपनी-अपनी पर्यायों में 'यह वही है... यह वही है'- ऐसे द्रव्य की सत्ता का द्योतक **नित्यस्वभाव** है तथा वही द्रव्य, अनेक पर्यायरूप से परिणत होने के कारण **अनित्यस्वभाववान्** भी है।

द्रव्य, भेदकल्पना निरपेक्ष होने से **एकस्वभाववाला** भी है तथा भेदकल्पना सापेक्ष होने से **अनेकस्वभावाला** भी है।

द्रव्य, भविष्यकाल में अपने स्वभावरूप से परिणमित होगा – ऐसा उसका **भव्यस्वभाव** है तथा तीनों काल में कभी भी पर-स्वरूप से परिणमित नहीं होगा – ऐसा **अभव्यस्वभाव** भी है।

द्रव्य, पारिणामिकस्वभाव की प्रधानता होने के कारण **परमस्वभाववाला** है।

उक्त व्युत्पत्तियों के समान अन्य सामान्य स्वभावों, प्रदेशादि गुणों तथा चेतनस्वभावों की व्युत्पत्ति भी जानना चाहिए।

स्वभावादन्यथा भवनं विभावः।

शुद्धः केवलो भावः; अशुद्धस्तस्याऽपि विपरीतः।

स्वभावस्याऽप्यऽन्यत्रोपचारात् उपचरितस्वभावत्वं; ते द्वेधा – कर्मज-स्वभाविकभेदात्।

यथा – जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वं च, सिद्धात्मनां परज्ञता परदर्शनत्वं च।

विशेषस्वभावानां व्युत्पत्तिः कृता।

एते एकविंशतिः स्वभावाः प्रमाणवाक्येन योज्याः, नयवाक्येन च।

स्वभाव से अन्यथा परिणमन करना **विभाव** है।

केवल अमिलित अर्थात् मिलावटरहित भाव को **शुद्धभाव** कहते हैं, उससे विपरीत भाव को **अशुद्धभाव** कहते हैं।

स्वभावों का भी अन्यत्र उपचार करने से उपचरित स्वभावपना होता है। वे दो प्रकार के होते हैं – १. कर्मज और २. स्वभाविक।

जैसे – संसारी जीवों के मूर्तत्व एवं अचेतनत्व आदि कर्मोदय –जनित होने से **कर्मज उपचरित स्वभाव** हैं तथा सिद्धों के परज्ञता और परदर्शनत्व आदि **स्वाभाविक उपचरित स्वभाव** हैं।

इस प्रकार **विशेष स्वभावों की व्युत्पत्ति** की गई।

अब, उक्त २१ स्वभावों की प्रमाणवाक्यों एवं नयवाक्यों से सिद्धि करते हैं –

प्रमाणवाक्यं; यथा –

स्यादस्ति।

स्यान्नास्ति।

स्यादस्तिनास्ति।

स्यादवक्तव्यं।

स्यादस्त्यवक्तव्यं।

स्यान्नास्त्यवक्तव्यं।

स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमादयः।

नयवाक्यं; यथा –

अस्त्येव स्वद्रव्यादि-ग्राहकनयेन।

प्रमाणवाक्य (प्रमाण सप्तभंगी) निम्न प्रकार हैं –

१. **कथंचित् अस्ति** है।

२. **कथंचित् नास्ति** है।

३. **कथंचित् अस्ति-नास्ति** है।

४. **कथंचित् अवक्तव्य** है।

५. **कथंचित् अस्ति-अवक्तव्य** है।

६. **कथंचित् नास्ति-अवक्तव्य** है।

७. **कथंचित् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य** है।

नयवाक्य (नय सप्तभंगी) निम्न प्रकार है –

१. स्वद्रव्यादि चतुष्टय ग्राहक नय से **अस्ति ही** है।

नास्त्येव परद्रव्यादि-ग्राहकनयेन।

अस्तिनास्त्येव उभयचतुष्टयापेक्षया।

अवक्तव्य एव पूर्वोक्तनयचतुष्टययुगपद्वक्तु-मशक्यत्वात्।

अस्त्यवक्तव्य एव स्वद्रव्यादिग्राहकेन युगपद्वक्तु-मशक्यत्वात्।

नास्त्यवक्तव्य एव परद्रव्यादिग्राहकेन युगपद्वक्तु-मशक्यत्वात्।

अस्तिनास्त्यवक्तव्य एव उभयनयचतुष्टयापेक्षया युगपद्वक्तुमशक्यत्वात्।

---

२. परद्रव्यादि चतुष्टय ग्राहक नय से **नास्ति ही** है।

३. स्व-परद्रव्यादि चतुष्टय ग्राहक नय की अपेक्षा **अस्ति-नास्ति ही** है।

४. पूर्वोक्त नयचतुष्टय को एकसाथ कहना अशक्य होने से **अवक्तव्य ही** है।

५. स्वद्रव्यादि चतुष्टय ग्राहक नय तथा पूर्वोक्त नय-चतुष्टय को एक साथ कहना अशक्य होने की अपेक्षा **अस्ति-अवक्तव्य ही** है।

६. परद्रव्यादि चतुष्टय ग्राहक नय तथा पूर्वोक्त नय-चतुष्टय को एक साथ कहना अशक्य होने की अपेक्षा **नास्ति-अवक्तव्य ही** है।

७. उभय नय-चतुष्टय ग्राहक नय तथा पूर्वोक्त नय-चतुष्टय

स्वभावानां नये योजनिकामाह।

स्वद्रव्यादिग्राहकेणाऽस्तिस्वभावं।

(परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभावं।)

भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकस्वभावं।

भेदकल्पनासापेक्षेणाऽन्वयद्रव्यार्थिकेणैकस्याप्यनेक-द्रव्यस्वभावत्वं।

सद्भूतव्यवहारेण गुणगुणिनोर्भेदस्वभावं।

भेदकल्पनानिरपेक्षेण गुणगुणिनोरभेदस्वभावं।

परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपारिणामिकस्वभावं।

को एक साथ कहना अशक्य होने की अपेक्षा **अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य ही** है।

अब, **नयों में स्वभावों की योजना** बताते हैं –

स्वद्रव्यादि ग्राहक नय की अपेक्षा **अस्तिस्वभाव** है।

(परद्रव्यादि ग्राहक नय की अपेक्षा **नास्तिस्वभाव** है।)

भेदकल्पना निरपेक्ष नय की अपेक्षा **एकस्वभाव** है।

भेदकल्पना सापेक्ष अन्वयद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा एक द्रव्य में भी **अनेकद्रव्यस्वभावपना** है।

सद्भूत व्यवहार नय से गुण-गुणी में **भेदस्वभाव** है।

भेदकल्पना निरपेक्ष नय से गुण-गुणी का **अभेदस्वभाव** है।

परमभाव ग्राहक नय से **भव्य-अभव्य पारिणामिक-स्वभाव** है।

शुद्धाशुद्धपरमभावग्राहकेण चेतनस्वभावं, जीवस्याऽसद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि।

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोरचेतनस्वभावत्वं, जीवस्याऽप्यऽसद्भूतव्यवहारेण।

परमभावग्राहकेण कर्मनोकर्मणोर्मूर्तस्वभावत्वं, जीवस्याऽप्यऽसद्भूतव्यवहारेण।

परमभावग्राहकेण पुद्गलं विहाय इतरेषाममूर्तस्वभावत्वं।

चतुर्णामुपचारादपि नास्ति चेतनत्वं मूर्तत्वं च।

परमभावग्राहकेण कालपुद्गलाणोरेकदेशस्वभावत्वं। भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां।

शुद्ध, अशुद्ध और परमभाव ग्राहक नय से जीव का तथा असद्भूत व्यवहार नय से कर्म-नोकर्म का भी **चेतनस्वभाव** है।

परमभाव ग्राहक नय की अपेक्षा कर्म-नोकर्म का तथा असद्भूत व्यवहार नय से जीव का भी **अचेतनस्वभाव** है।

परमभाव ग्राहक नय की अपेक्षा कर्म-नोकर्म का तथा असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा जीव का भी **मूर्तस्वभाव** है।

परमभाव ग्राहक नय की अपेक्षा पुद्गल को छोड़कर बाकी सभी द्रव्यों का **अमूर्तस्वभाव** है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन चार द्रव्यों का **उपचार से भी चेतनत्व और मूर्तत्व स्वभाव नहीं** है।

परमभाव ग्राहक नय की अपेक्षा कालद्रव्य और पुद्गलाणु का **एकप्रदेशस्वभाव** है। जबकि भेदकल्पना निरपेक्ष नय से

भेदकल्पनासापेक्षेण चतुर्णां बहुप्रदेशस्वभावत्वं, पुद्गलाऽणोरुपचारतः।

शुद्धाऽशुद्धद्रव्यार्थिकेन विभावस्वभावत्वं।

शुद्धद्रव्याऽर्थिकेन शुद्धस्वभावत्वं।

अशुद्धद्रव्यार्थिकेनाऽशुद्धस्वभावत्वं।

असद्भूतव्यवहारेणोपचरितस्वभावत्वं।

दुर्नयैकान्तमारूढाः, भावा न स्वार्थिका हिता।
स्वार्थिकास्तद्विपर्यस्ताः, निःकलंकास्तथा यतः॥ ३॥

अन्य द्रव्यों का भी **एकप्रदेशस्वभाव** है।

भेदकल्पना सापेक्ष नय से जीव, धर्म, अधर्म और आकाश - इन चार द्रव्यों का **बहुप्रदेशस्वभाव** है तथा पुद्गलाणु का उपचार से **बहुप्रदेशस्वभाव** है।

शुद्धाशुद्ध द्रव्यार्थिकनय से **विभावस्वभाव** है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से **शुद्धस्वभाव** है।

अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से **अशुद्धस्वभाव** है।

असद्भूत व्यवहार नय से **उपचरित स्वभाव** है।

अब यहाँ **सर्वथा एकान्तपक्ष में दूषण** देते हैं -

एकान्त-दुर्नय-रूढ़भावों से न सिद्धि इष्ट की।
एकान्त-सम्यक्-भाव से , अकलंक सिद्धि इष्ट की।। ३।।

श्लोकार्थ ३ - दुर्नय-एकान्त में आरूढ़ भावपूर्वक से स्व-अर्थ की सिद्धिदायक हितकारी भाव नहीं होते, लेकिन दुर्नय

एकान्तेन सद्रूपस्य न नियतार्थव्यवस्था, संकरादि-दोषदुष्टत्वात् तथाऽसद्रूपस्य सकलशून्यताप्रसंगः।

स्वस्वरूपेणाऽप्यऽभावत्वान्नित्यस्य तथैव रूपत्वाददृष्ट-कल्पनादिदोषसम्भवः। अनित्यपक्षेऽपि तथा निरन्वयत्वात् प्रत्याभिज्ञानाद्यसम्भवः।

एकरूपस्यैकान्तेन विशेषाऽभावः सर्वथैकरूपत्वात्, विशेषाऽभावे सामान्यस्याऽप्यऽभावः। अनेकपक्षेऽपि तथा द्रव्याऽभावो निराधारत्वात्।

एकान्त से विपरीत सुनय-एकान्त में आरूढ़ भाव, स्व-अर्थ की सिद्धिदायक तथा निष्कलंक होते हैं।

सर्वथा एकान्त सत्तारूप पदार्थ मानने पर नियत अर्थ वाली व्यवस्था सम्भव नहीं होती है; क्योंकि ऐसा मानने पर संकर-व्यतिकर आदि सभी दोषों का प्रसंग प्राप्त होता है तथा पदार्थ को सर्वथा असत्रूप मानने पर सकलशून्यता का प्रसंग प्राप्त होता है।

पदार्थ का स्व-स्वरूप से भी परिणमित होना नहीं मानने पर सर्वथा नित्य एकरूपता के कारण अदृष्टपना आदि दोषों का प्रसंग प्राप्त होता है तथा सर्वथा अनित्य पक्ष मानने पर भी निरन्वयपने के कारण प्रत्यभिज्ञान आदि ही सम्भव नहीं होते हैं।

पदार्थ को सर्वथा एकरूप मानने पर विशेष के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है, जिससे विशेष के अभाव में सामान्य का भी अभाव हो जाता है तथा सर्वथा अनेकपना मानने पर भी निराधार होने से द्रव्य का ही अभाव हो जााता है।

भेदपक्षेऽपि तथा विशेषस्वभावानां निराधारत्वादर्थक्रिया-कारित्वाऽभावोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावे द्रव्यस्याऽप्यऽभावः। अभेदपक्षेऽपि सर्वथैकत्वादर्थक्रियाकारित्वाऽभावे द्रव्स्या-ऽप्यऽभावः।

भव्यस्यैकान्तेन परपरिणत्या संकरादिदोषसम्भवः, पर-स्वरूपेणाऽपि भवनात्। अभव्यत्वाऽपि तथा शून्यताप्रसंगः, स्वस्वरूपेणाऽप्यऽभवनात्।

स्वभावरूपस्यैकान्तेन संसाराऽभावः, विभावनिरपेक्ष-त्वात्। विभावपक्षेऽपि तथा मोक्षस्याऽसम्भव स्वभाव-निरपेक्षत्वात्।

सर्वथा भेदपक्ष मानने पर विशेष स्वभावों के निराधार होने से अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में द्रव्य का अभाव हो जाता है तथा सर्वथा अभेदपक्ष मानने पर भी सर्वथा एकत्व होने से अर्थक्रिया-कारित्व के अभाव में द्रव्य का अभाव हो जाता है।

सर्वथा भव्यपना मानने पर, परपदार्थरूप भी परिणामित होने के कारण पर-परिणति के साथ संकर आदि दोषों का प्रसंग प्राप्त होता है तथा सर्वथा अभव्यपना मानने पर, पदार्थ स्व-स्वरूप से भी परिणमित नहीं होता, जिससे सकलशून्यता का प्रसंग आता है।

पदार्थ को सर्वथा स्वभावरूप मानने पर विभाव से निरपेक्षता होने के कारण संसार का ही अभाव हो जाता है तथा सर्वथा विभाव-रूप मानने पर स्वभाव से निरपेक्षता होने से मोक्ष का भी अभाव हो जाता है।

चैतन्यमेवेत्युक्ते सर्वेषां शुद्धज्ञानचैतन्याऽवाप्तिर्भवति, सामान्यवचनात्। अचैतन्यपक्षेऽपि सकलचैतन्योच्छेद इत्थ-मेवत्वात्।

मूर्तस्यैकान्तेनाऽऽत्मनोऽमोक्षाऽवाप्तिः स्यात्तन्मयत्वात्, अमूर्तस्याऽपि तथाऽऽत्मनः संसारविलोपः मूर्तत्वनिरपेक्षत्वात्।

एकप्रदेशस्यैकान्तेनाऽऽत्मनोऽनेककार्यकारित्वहानि-रनेकप्रदेशनिरपेक्षत्वात्। अनेकप्रदेशपक्षेऽपि तथैवैककार्य-कारित्वाऽभावः, निरेकाधारत्वात्।

'सर्वत्र चैतन्य ही व्याप्त है' – ऐसा कहने पर सभी पदार्थों में शुद्ध–ज्ञान–चैतन्य की व्याप्ति का प्रसंग आता है, क्योंकि यह सामान्य वचन है तथा सर्वथा अचैतन्य पक्ष में भी सर्वत्र चैतन्य के उच्छेद (नाश) का प्रसङ्ग आता है।

सर्वथा मूर्तपना मानने पर आत्मा की मोक्ष के साथ व्याप्ति का अभाव हो जाता है अर्थात् आत्मा का कभी मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा, मूर्तकर्मों के साथ ही तन्मय हो जाता है तथा सर्वथा अमूर्तपना मानने पर आत्मा की संसारदशा का ही अभाव हो जाता है, क्योंकि अमूर्तपना होने से आत्मा, संसारदशा में भी द्रव्यकर्मों से निरपेक्ष हो जाती है।

सर्वथा एकप्रदेशीपना मानने पर आत्मा की अनेक प्रदेशों से निरपेक्षता हो जाने पर अनेककार्यकारित्व की हानि हो जाती है तथा सर्वथा अनेकप्रदेशीपना मानने पर भी एक आधार के अभाव में एककार्यकारित्व की हानि हो जाती है।

शुद्धस्यैकान्ते संसाराऽभावः, अशुद्धव्यनिरपेक्षत्वात्। अशुद्धस्याऽपि तथात्मनः कदाचिदपि न शुद्धबोध-प्रसंगस्तन्मयत्वात्।

उपचरितैकान्तपक्षे नाऽऽत्मज्ञतासम्भवः, नियमित-पक्षत्वात्। तथात्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः। तस्मादेव उभयैकान्तपक्षेऽपि विरोधैरेकान्तत्वात्।

तर्ह्यनेकान्तेऽपि कस्मान्न भवति ?

स्याद्वादत्वात्।

सर्वथा शुद्ध मानने पर अशुद्धता के अभाव में संसार का ही अभाव हो जाता है तथा सर्वथा अशुद्ध मानने पर आत्मा को कभी भी शुद्धज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह आत्मा अशुद्ध से तन्मय हो जाता है।

सर्वथा उपचरित मानने पर कभी भी आत्मज्ञता संभव नहीं है, क्योंकि सदैव परपदार्थों की नियमितता बनी रहने से परज्ञता ही सिद्ध होती है, आत्मज्ञता नहीं तथा सर्वथा अनुपचरितपना मानने पर परज्ञता आदि उपचरित स्वभावों के होने में विरोध प्राप्त होता है; इसी तरह उभय–एकान्त पक्ष में भी विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि वहाँ दोनों प्रकार के दोषों की संभावना रहती है।

शंका – यदि उभय–एकान्त पक्ष में भी दोनों प्रकार के दोष सम्भवित हैं तो अनेकान्त पक्ष में भी उन दोषों का निराकरण कैसे होता है ?

समाधान – स्यादवाद होने से अनेकान्त में विरोध आदि दोष सम्भव नहीं है।

स (विरोधः) च क्षेत्रादिभेदे दृष्टः अहिनकुलादीनां।

स च वध्य-घातकः, सहाऽनवस्थानलक्षणः, प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धकश्चेति त्रिविधः।

अभेदे त्वनवस्थानलक्षणः। तत्राऽनवस्थानं द्विविधं। गुणानामेकाधारत्वलक्षणं। गगनतलाऽवलम्बीति।

संकरः, व्यतिकरः, अनवस्था, अभावः, अदृष्टकल्पना, दृष्टपरिहानिः, विरोधः, वैयधिकरण्यं चेति दृष्टो दोषा एकान्ते सम्भवाः।

क्षेत्रादि की अपेक्षा सर्वथा भेद मानने पर ही विरोध आदि दोष दिखाई देते हैं।

विरोध तीन प्रकार का होता है – **१. वध्य-घातक**; जैसे – सर्प और नेवले में विरोध होता है। **२. सह-अनवस्थान लक्षण** और **३. प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक**।

क्षेत्रादि की अपेक्षा सर्वथा अभेद मानने पर अनवस्थान लक्षण वाले विरोध का प्रसङ्ग आता है। वह अनवस्थान लक्षण वाला विरोध दो प्रकार का है –

* गुणों के एक आधाररूप लक्षण वाला।
* आकाशद्रव्य के क्षेत्र में रहनेरूप लक्षण वाला।

इस प्रकार सर्वथा एकान्त मानने पर संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अभाव, अदृष्टकल्पना, दृष्टपरिहानि, विरोध और वैयधिकरण – ये आठ प्रत्यक्ष दोष प्राप्त होते हैं।

नाना-स्वभाव-संयुक्तं,
द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणतः।
तच्च सापेक्षसिद्ध्यर्थं,
स्यान्नयमिश्रितं कुरु॥ ४॥

भावः स्यादस्तिनास्तीति,
कुर्यान्निर्दोषमेव तं।
फलेन चाऽस्य सम्बन्धो,
नित्याऽनित्यादिकं तथा॥ ५॥

नानास्वभावी द्रव्य को, जानो प्रथम सुप्रमाण से।
सापेक्ष सिद्धि के लिए, नय योजना कर जानिये।। ४।।

श्लोकार्थ ४ – प्रमाण के द्वारा अनेकस्वभावों से युक्त द्रव्य को जानकर, उसी की सापेक्ष सिद्धि करने के लिए नयों की योजना करनी चाहिए।

स्यात् अस्ति-नास्ति वस्तु मानना निर्दोष है।
अर्थकारी हो तभी जब, स्यात् नित्य-अनित्य हो।। ५।।

श्लोकार्थ ५ – द्रव्य को कथंचित् अस्ति-नास्तिरूप मानना निर्दोष ही है, क्योंकि तभी अर्थक्रियाकारित्व सम्भव होता है। इसी प्रकार द्रव्य को कथंचित् नित्यानित्यात्मक मानने पर ही अर्थक्रिया संभव होती है।

अब, अनेक प्रकार से **'स्यात्' (अनेकान्त) की सिद्धि** करते हैं –

स्यादस्ति स्यात् केनचिदभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायः ? -[स्वरूपेणाऽस्ति।]

[तर्हि स्याच्छब्देन किं ?] - यथा स्वस्वरूपेणाऽस्तित्वं तथा पररूपेणाऽप्यऽस्तित्वं माभूदिति स्याच्छब्दः। स्यान्नास्तीति पररूपेणैव कुर्यात्, स्यादस्तित्वादऽदोषताऽस्य।

फलं चास्याऽनेकस्वभावाऽधारत्वं, नास्ति-स्वभावस्य तु संकरादिदोषरहितत्वं।

---

१. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् अस्तिस्वरूप है।

शंका - वह कौनसा अभिप्राय है?

[**समाधान** - अपने **स्वरूप की अपेक्षा अस्तिपना** है।]

[**शंका** - यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?]

समाधान - जिस प्रकार अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तिपना है, उसी प्रकार परस्वरूप की अपेक्षा भी अस्तिपना नहीं है - यह ज्ञान कराने के प्रयोजन से **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया गया है।

'वस्तु कथंचित् नास्तिस्वरूप है' - यह कथन **परस्वरूप की अपेक्षा** किया है। 'वस्तु कथंचित् अस्तिस्वरूप है' - इस वचन के साथ उक्त कथन की निर्दोषता है।

इस प्रकार फलित हुआ कि अस्तिस्वभाव के कारण अनेक स्वभावों के आधारवाली वस्तु है तथा नास्तिस्वभाव के कारण वस्तु संकर आदि दोषों से रहित है।

स्यान्नित्यः स्यात्केनचिभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायो?

द्रव्यरूपेण नित्य इति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं?

यथा द्रव्यरूपेण नित्यत्वं, तथा पर्यायरूपेण नित्यत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः।

स्यादनित्य इति पर्यायरूपेणैव कुर्यात्, स्याद्नित्यत्वाद-ऽदोषता।

सफलं चाऽस्य चिरकालाऽवस्थायित्वं। अनित्यस्वभावस्य तु कर्मादानविमोचनादिकं स्वहेतुभिः।

---

२. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् नित्य है।

शंका - वह कौनसा अभिप्राय है?

समाधान - **द्रव्य अपेक्षा से नित्य** है।

शंका - यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?

समाधान - जिस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा नित्यपना है, उसी प्रकार पर्याय की अपेक्षा भी नित्यपना न हो; अतः **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया गया है।

'कथंचित् अनित्य है' - यह वचन, **पर्याय की अपेक्षा** किया है। इस वचन का कथंचित् नित्यत्व के साथ अविरोध है।

इस प्रकार फलित हुआ कि वस्तु नित्यस्वभाव के कारण चिरकाल अवस्थायी है तथा अनित्यस्वभाव के निमित्त होने पर अपने-अपने हेतुओं से कर्म के ग्रहण और त्याग को रोकती है।

स्यादेकः स्यात्केनचिदभिप्रायेण ?

कोऽसावभिप्रायः?

सामान्यरूपेणैकत्वमिति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं ?

यथा सामान्यरूपेणैकत्वं, तथा विशेषरूपेणाऽप्येकत्वं माभूदिति स्याच्छब्दः।

स्यादनेक इति विशेषरूपेणैव कुर्यात्, स्यादेकत्वाद-ऽदोषताऽस्य।

फलं चाऽस्य सामान्यत्वसमर्थनः। अनेक-स्वभावस्य त्वनेकस्वभावदर्शकत्वं।

---

३. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् एक है।

शंका – वह कौनसा अभिप्राय है?

समाधान – **सामान्यस्वरूप की अपेक्षा एक** है।

शंका – यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?

समाधान – जिस प्रकार सामान्यस्वरूप की अपेक्षा एकत्व है, उसी प्रकार विशेषस्वरूप की अपेक्षा भी एकत्व न हो; अतः **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया गया है।

'कथंचित् अनेक हैं'–यह वचन **विशेषस्वरूप की अपेक्षा** किया है। इस वचन का कथंचित् एकपने के साथ अविरोध है।

इस प्रकार सामान्य का समर्थन करना ही एकपने का फल है तथा अनेक स्वभावों का प्रदर्शन करना ही अनेकस्वभाव का फल है।

स्याद्भेदः स्यात्केनचिदभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायः ?

सद्भूतव्यवहारेण भेद इति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं ?

यथा सद्भूतव्यवहारेण भेदस्तथा द्रव्यार्थिकेनाऽपि माऽभूदिति स्याच्छब्दः।

स्यादभेद इति द्रव्यार्थिकेनैव कुर्यात्। स्याद्भेदत्वाद-ऽदोषताऽस्य।

फलं चाऽस्य व्यवहारसिद्धिः। अभेदस्वभावस्य तु परमार्थ-सिद्धिः।

---

४. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् भेदरूप है।

शंका – वह कौनसा अभिप्राय है?

समाधान – **सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा भेद** है।

शंका – यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?

समाधान – जिस प्रकार सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा भेद है, उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भेद न हो; अतः **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया गया है।

'कथंचित् अभेद है'–यह वचन **द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा** किया है। इस वचन का कथंचित् भेद के साथ अविरोध है।

इस प्रकार व्यवहार की सिद्धि करना ही भेदस्वभाव का फल है तथा परमार्थ की सिद्धि करना अभेदस्वभाव का फल है।

स्याद्भव्यः, स्यात्केनचिदभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायः? – स्वकीयस्वरूपेण भवनादिति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं?

यथा स्वकीयरूपेण भवनं, तथा पररूपेण भवनं माऽभूदिति स्यादच्छब्दः।

स्यादभव्य इति पररूपेणैव कुर्यात्। स्याद्भव्यत्वादऽदोषताऽस्य।

फलं चाऽस्य स्वपर्यायपरिणामित्वं। अभव्यस्य तु परपर्यायत्यागित्वं।

---

५. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् भव्य है।

शंका – वह कौनसा अभिप्राय है?

समाधान – अपने **स्वरूप से परिणमन करना – यही भव्यत्व का अभिप्राय** है।

शंका – यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?

समाधान – जिस प्रकार अपने स्वरूप से परिणमन हो सकता है, उस प्रकार परस्वरूप से परिणमन होना अशक्य है; अतः कथंचित् शब्द का प्रयोग किया है।

'कथंचित् अभव्य है' – यह कथन **पररूप की अपेक्षा** किया है। इस वचन का कथंचित् भव्य के साथ अविरोध है।

इस प्रकार अपनी पर्यायरूप परिणमन करना ही भव्यस्वभाव का फल है तथा परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमन का त्याग करना ही अभव्यस्वभाव का फल है।

स्यात्परमः, स्यात्केनचिदभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायः? – पारिणामिकस्वभावत्वेनेति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं?

यथा पारिणामिकस्वभावप्रधानत्वेन परमस्वभावत्वं, तथा कर्मजस्वभावप्रधानत्वेन माऽभूदिति स्याच्छब्दः।

स्याद्विभाव इति कर्मजरूपेणैव कुर्यात्। स्यात्परमत्वाददोषताऽस्य।

फलं चाऽस्य स्वभावादचलिता वृत्तिः। विभावस्य तु स्वभावे विकृतिः।

---

६. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् परमस्वभाव है।

शंका – वह कौनसा अभिप्राय है?

समाधान – पारिणामिकस्वभाव की अपेक्षा परमस्वभाव है।

शंका – यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?

समाधान – जिस प्रकार पारिणामिकस्वभाव की प्रधानता से परमस्वभाव है, उस प्रकार कर्मज स्वभाव की प्रधानता नहीं होता है; अतः **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया गया है।

'**कथंचित्** विभावरूप है' – यह कथन, **कर्मजरूप की प्रधानता** से किया है। इस वचन का कथंचित् परमस्वभाव के साथ अविरोध है।

इस प्रकार स्वभाव से अचलितवृत्ति ही परमस्वभाव का फल है तथा स्वभाव में विकृति करना ही विभाव का फल है।

स्याच्चेतनः, स्यात्केनचिदभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायः ?

चेतनस्वभावप्रधानत्वेनेति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं ?

यथा चेतनस्वभावप्रधानत्वेन चेतनत्वं, तथाऽचेतनस्वभावेनाऽपि चेतनत्वं माऽभूदिति स्याच्छब्दः।

स्यादचेतन इति व्यवहारेणैव कुर्यात्। स्याच्चेतनत्वादऽदोषताऽस्य।

फलं चाऽस्य कर्मादानं हानिर्वा। अचेतनस्वभावस्य तु कर्मादानमेव।

---

७. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् चेतन है।

शंका – वह कौनसा अभिप्राय है?

समाधान – **चेतनस्वभाव की प्रधानता से चेतन** है।

शंका – यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?

समाधान – जिस प्रकार चेतनस्वभाव की प्रधानता से चेतन है, उस प्रकार अचेतनस्वभाव की प्रधानता से चेतनपना नहीं होता है; अतः **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया गया है।

'कथंचित् अचेतन है' – यह कथन **व्यवहारनय की अपेक्षा** किया है। इस वचन का कथंचित् चेतन के साथ अविरोध है।

इस प्रकार चेतनस्वभाव के कारण कर्मों का ग्रहण या त्याग, उसका फल है तथा अचेतनस्वभाव के कारण केवल कर्मों का ग्रहण ही होता है।

स्यान्मूर्तः, स्यात्केनचिदभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायः ?

असद्भूतव्यवहारेण मूर्त इति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं ?

यथा असद्भूतव्यवहारेण मूर्तत्वं, तथा परमभावेन मूर्तत्वं माऽभूदिति स्याच्छब्दः।

स्यादमूर्त इति परमभावेनैव कुर्यात्। स्यान्मूर्तत्वादऽदोषताऽस्य।

फलं चाऽस्य कर्मबन्धः। अमूर्तस्य तु स्वभावाऽपरित्यागित्वं।

---

८. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् मूर्त है।

शंका – वह कौनसा अभिप्राय है?

समाधान – **असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा मूर्त** है।

शंका – यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?

समाधान – जिस प्रकार असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा मूर्तत्व है, उस प्रकार परमभाव की अपेक्षा मूर्तत्व न हो; अतः **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया गया है।

'कथंचित् अमूर्त है' – यह कथन **परमभाव की अपेक्षा** किया गया है। इस वचन का कथंचित् मूर्त के साथ अविरोध है।

इस प्रकार मूर्तत्व का फल कर्मबन्ध है तथा अमूर्तत्व का फल स्वभाव का अपरित्याग है।

स्यादेकप्रदेशः, स्यात्केनचिदभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायः? – भेदकल्पनानिरपेक्षेणेति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं?

यथा भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकप्रदेशत्वं तथा व्यवहारेणाऽप्येकप्रदेशत्वं माऽभूदिति स्याच्छब्दः।

स्यादनेकप्रदेश इति व्यवहारेणैव कुर्यात्। स्यादेकप्रदेशत्वादऽदोषताऽस्य। फलं चाऽस्य निश्चयादेकत्वसमर्थनं। अनेकप्रदेशस्य तु अनेककार्यकारित्वं।

---

९. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् एकप्रदेशी है।

शंका – वह कौनसा अभिप्राय है?

समाधान – भेदकल्पना निरपेक्ष नय की अपेक्षा एकप्रदेशी है।

शंका – यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?

समाधान – जिस प्रकार भेदकल्पना निरपेक्ष नय से एकप्रदेशीपना है, उस प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा भी एक प्रदेशीपना न हो; अतः **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया गया है।

'कथंचित् अनेकप्रदेशी है' – यह कथन, **व्यवहारनय की अपेक्षा** किया है। इस वचन का कथंचित् एकप्रदेशी के साथ अविरोध है।

इस प्रकार निश्चय के साथ एकत्व का समर्थन करना, एकप्रदेशीपने का फल है तथा अनेक कार्यों को करना, अनेकप्रदेशीपने का फल है।

स्याच्छुद्धः, स्यात्केनचिदभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायः? – केवलस्वभावप्रधानत्वेनेति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं ?

यथा केवलस्वभावप्रधानत्वेन शुद्धस्वभावं तथा मिश्रस्वभावप्रधानत्वेन शुद्धत्वं माऽभूदिति स्याच्छब्दः।

स्यादशुद्ध इति मिश्रभावेनैव कुर्यात्। शुद्धत्वादऽदोषताऽस्य।

फलं चाऽस्य स्वभावाऽवाप्तिः। अशुद्धस्वभावस्य तु तद्विपरीता।

---

१०. वस्तु किसी अभिप्राय की कथंचित् शुद्ध है।

शंका – वह कौनसा अभिप्राय है।

समाधान – केवलस्वभाव की प्रधानता की अपेक्षा शुद्ध है।

शंका – यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है।

समाधान – जिस प्रकार केवलस्वभाव की प्रधानता से शुद्धस्वभाव है, उस प्रकार मिश्रस्वभाव की प्रधानता से शुद्धपना न हो; अतः **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया है।

'कथंचित् अशुद्ध है' – यह कथन **मिश्रभाव की अपेक्षा** किया है। इस वचन का कथंचित् शुद्ध के साथ अविरोध है।

इस प्रकार स्वभाव की प्राप्ति होना, शुद्धपने का फल है तथा स्वभाव की प्राप्ति न होना, अशुद्धपने का फल है।

स्यादुपचरितः स्यात्केनचिदभिप्रायेण।

कोऽसावभिप्रायः ? – स्वभावस्याप्यऽन्यत्रोपचारादिति।

तर्हि स्याच्छब्देन किं ?

यथा स्वभावस्याप्यऽन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभावत्वं, तथाऽनुपचारिणेप्युपचारत्वं माऽभूदिति स्याच्छब्दः।

स्यादनुपचरित इति निश्चयादेव कुर्यात्। स्यादुपचरिताद-ऽदोषताऽस्य। फलं चाऽस्य परज्ञताऽदयः। अनुपचरित-स्वभावस्य तथाऽपि विपरीतं।

---

११. वस्तु किसी अभिप्राय से कथंचित् उपचरित है।

शंका – वह कौन सा अभिप्राय है?

समाधान – स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार करने की अपेक्षा उपचरित है।

शंका – यदि ऐसा है तो **कथंचित्** शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन है?

समाधान – जिस प्रकार स्वभाव का ही अन्यत्र उपचारपना होने से उपचरितस्वभावपना है, उस प्रकार अनुपचार की अपेक्षा उपचरितपना न हो; अतः **कथंचित्** शब्द का प्रयोग किया है।

'कथंचित् अनुपचरित है' – यह कथन **निश्चयनय की अपेक्षा** किया है। इस वचन का कथंचित् उपचरित के साथ अविरोध है।

इस प्रकार परज्ञता आदि उपचरितस्वभाव के फल हैं तथा परज्ञता आदि से विपरीत आत्मज्ञता आदि अनुपचरितस्वभाव के फल हैं।

एवमात्मा स्वकीयैबन्धमोखकारणकलापैर्बध्यते मुच्यते। बध्यतेऽशुद्धभावेन शुद्धेन मुच्यते। यथा –

स्वभावसेवया चाऽसौ, स्वभावः पारिणामिकः।
शुद्धः शुद्धस्वभावः स्यादऽशुद्धस्तु हि बन्धकः॥ ६॥

तस्माद् द्वावपि नाऽऽराध्यावाऽऽराध्यः पारमार्थिकः।

एवं यदेव वस्तु व्यवहारनयाऽऽलिंगिते खण्डितमनेक-मुपचरितं, तदेव निश्चयाऽऽलिंगितेनाऽखण्डितैकमनुपचरितम-ऽनाद्यनिधनं, उभयाऽऽलिंगितेनोभयात्मकं। उभयनयविकल्प-रहितत्वेनाऽनुभयात्मकं।

इस प्रकार आत्मा अपने-अपने बन्ध और मोक्ष के कारण-कलापों के कारण बँधता है और मुक्त होता है। अशुद्धभावों से बँधता है और शुद्धभावों से मुक्त होता है। कहा है –

पारिणामिक शुद्धभावी, आत्मा को जो ग्रहे।
शुद्धसेवी मुक्त हो, जो अशुद्ध सेवे वह बँधे।। ६ ।।

श्लोकार्थ ६ – आत्मा का स्वभाव शुद्ध पारिणामिकभाव है। इस शुद्धस्वभाव के सेवन से जीव मुक्त होता है तथा अशुद्ध-स्वभाव के सेवन से बँधता है।

अतः शुद्धता और अशुद्धता, दोनों ही विकल्प आराध्य नहीं हैं, केवल पारमार्थिकभाव (पारिणामिकभाव) ही आराध्य है।

इस प्रकार जो वस्तु व्यवहारनय की अपेक्षा खण्डित है, अनेकरूप हैं एवं उपचरित हैं; वही निश्चयनय की अपेक्षा अखण्डित हैं, एक हैं, अनुपचरित हैं एवं अनादिनिधन हैं; वही उभयनयों की

एवं व्यवहारदृष्ट्याऽऽलिंगितत्वात्परसापेक्षत्वेनाऽनुभयस्याऽपि व्यवहारत्वं। अतएव व्यक्तिनिष्ठत्वेन निश्चयतया पुनरभिहितः -

एको भावः सर्वभावस्वभावः,
सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः,
सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः॥ ७॥

अतो व्यवहारपदव्यां व्यवहारत्वस्य भेदाः श्रद्धेयत्वेनोपा-देयाः पंचास्तिकायषट्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थाः समर्थिताः

अपेक्षा उभयात्मक है तथा वही उभयनयों के विकल्प से रहित होने से अनुभयस्वरूप है।

इस प्रकार वस्तु, व्यवहार दृष्टि से आलिंगित होने से पर-सापेक्ष या परस्पर सापेक्ष है तथा परस्पर सापेक्ष होने से अनुभयस्वरूप का भी व्यवहारपना है। अतएव वस्तु, व्यक्तिनिष्ठ (सापेक्ष) होने से यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि -

एक ही सब भावमय, सब भाव एकस्वभाव हैं।
जो जानता है एक को, वह जान लेता सर्व को।।७।।

श्लोकार्थ ७ - जो एकभाव वाला है, वह सर्वभाव के स्वभाव वाला है; तथा जो सर्वभाव हैं, वे एकभाव के स्वभावमय हैं; अतः जिसने वास्तविकरूप से एकभाव को जान लिया, उसने वास्तव में सर्वभावों को जान लिया।

अतः व्यवहार-पदवी अर्थात् विकल्पात्मक दशा में व्यवहार नय से प्रतिपादित पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ

भवन्ति। एवं शब्दाऽऽगमप्रसाधितेऽर्थे परिज्ञानेऽपि यदि श्रद्धा नोत्पद्यते, तदा सम्यग्भावाऽऽगमो न सेत्स्यति।

शास्त्रादिनिमित्तकारणं, तत्त्वं सहकारणं, औपशमिकभावं उपादानकारणं प्राप्य यदाऽप्यैवंविधतत्त्वे श्रद्धा उत्पद्यते, तदा मिथ्याध्वंसिनी सैव दृष्टि व्यवहारिका। तस्मिन् सत्त्वे परिज्ञानं। तस्मिन् सत्त्वे रागद्वेषाऽभावश्चारित्रं।

दर्शनात्पूर्वं ज्ञानं, सम्यग्ज्ञानतो हि तत् श्रद्धाऽर्हतं, यतो मिथ्यात्वात्सम्यक्त्वयोगतः।

एवमात्मनः सम्यक्पर्यायत्रयं, यदा भेदोपचारेण व्यव-

ही श्रद्धेयरूप से उपादेय हैं, समर्थित हैं। इस तरह शब्दरूप आगम से प्रसाधित अर्थ का परिज्ञान होने पर भी यदि श्रद्धान उत्पन्न नहीं होता तो सम्यक् भावरूप आगम की सिद्धि नहीं हो सकती।

शास्त्रादि निमित्त कारण, तत्त्वादि सहकारी कारण तथा औपशमिक भावरूप उपादान कारण प्राप्त होने पर जब उक्त तत्त्वों में श्रद्धा उत्पन्न होती है, वही मिथ्यात्व का विध्वंस करने वाली सच्ची व्यवहारिक दृष्टि है; उसके होने पर ही ज्ञान तथा ज्ञान के होने पर ही राग-द्वेष के अभावरूप चारित्र उत्पन्न होता है।

अथवा दर्शन के पूर्व ज्ञान होता है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के कारण ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, तभी मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार आत्मा की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र की तीनों सम्यक् पर्यायें, जब भेदोपचार के द्वारा व्यवहृत

ह्रियते, तदा व्यवहारात्मको भवत्यात्मा व्यवहारनयालिंगत्वात्। अस्यैव व्यवहारस्य निश्चयश्रुतसाधकत्वं व्यवहारभावः।

श्रुतस्यैव भेदत्रयात् सापन्नत्वात्। यदा तदेव त्रित्वम-ऽनेकत्वं विहाय स्वस्मिन्नेकत्वे प्रवर्तते, तदा साधकत्वमस्य।

तद्यथा – अभेदाऽनुपचारतया निश्चीयमानं त्विदमेव निश्चयात्मको भवत्यात्मा, निश्चनयाऽलिंगित्वात्, निश्चय-नयस्यैव निश्चयश्रुताऽभिधानं, अतोऽनेन परिच्छिन्नो योऽसा-वात्मा स समयसारः उच्यते।

व्युत्पत्तिरस्य, समानः साधारणः क्षयोपशमिकक्षायिकज्ञान -बोधोऽस्यात्मा समय उच्यते। यदा सम्यग्निश्चयवीतरागभावेन

की जाती हैं, तब आत्मा व्यवहार नय से आलिंगित होने से व्यवहारात्मक रहता है। इस व्यवहार का निश्चय श्रुत के प्रति साधकपना ही उसका व्यवहारभावपना है।

श्रुत की भेदत्रय के साथ सापेक्षता है, जब वह अपने त्रित्व अर्थात् अनेकत्व को छोड़कर अपने एकत्व स्वभाव में प्रवर्तता है, तभी उसका साधकपना है।

जैसे, अभेद एवं अनुपचार से निश्चित की गईं इन्हीं तीन सम्यक् पर्यायों से यह आत्मा निश्चयात्मक होता है अर्थात् निश्चय नय से आलिंगित होता है, क्योंकि निश्चय नय का ही निश्चय श्रुत के रूप में कथन किया गया है; अतः इस निश्चय श्रुत से जाना गया आत्मा ही समयसार कहलाता है।

समयसार की व्युत्पत्ति इस प्रकार है – समान या साधारण, क्षायोपशमिक या क्षायिकज्ञान वाला यह आत्मा ही समय कहलाता

परिणतस्तदा समयश्चाऽसौ सारश्च समयसारः असावुक्तः।

कर्मजभावाऽतीतो ज्ञायको भावः। अस्यैव अनुभूति-र्निश्चयदर्शनं। अस्यैव निजात्मेति परिज्ञानं निश्चयज्ञानं। अशुभक्रियया व्रतादिना निवर्तते कश्चित्तथा स्वस्वभावमेव स्वीकारेण शुभक्रियया निवर्तते, यः स सरागक्रियानिवृत्तो वीतरागः।

भेदोपचारलक्षणे दर्शने स्वाऽऽराध्यमाने मम इदानीं समयसारज्ञानसम्पन्नस्याऽभेदाऽनुपचारलक्षण आत्मैवाराध्यः। ज्ञानादिष्वऽप्येवं योज्यं।

है। जब यह आत्मा, सम्यक् निश्चयस्वरूप वीतरागभाव से परिणत होता है; तब वही समयसार कहलाता है।

कर्मजभावों से अतीत ज्ञायकभाव है। उसी की अनुभूति निश्चय दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन है; 'वही मेरा निजात्मा है' – ऐसा ज्ञान निश्चय ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान है तथा जिस प्रकार अशुभ क्रियाओं की निवृत्ति, व्रतादिक शुभ क्रियाओं से होती है, उसी प्रकार अपने स्वभाव को स्वीकार करने से शुभ क्रियाओं से भी निवृत्ति हो जाती है, वही सरागक्रियानिवृत्त वीतराग अर्थात् निश्चय चारित्र या सम्यक्चारित्र होता है।

भेद एवं उपचार लक्षण वाले दर्शन में भी अपने आराध्य-मान के प्रति यह भावना होती है कि यह समयसारस्वरूप ज्ञान से सम्पन्न अभेद-अनुपचार लक्षण वाला मेरा आत्मा ही आराध्य है। इसी प्रकार ज्ञान, चारित्र आदि में भी घटित कर लेना चाहिए।

बाह्याऽर्थग्राहकेन विशेषज्ञानलक्षणेन लक्षितः, अतः स्व-संवेद्यसामान्यज्ञानानन्दस्वभावोऽहम्। अस्मिन् दर्शनचैतन्योप-लब्धावऽप्येवं योज्यं। एतत् शिक्षकसाधुः प्रयुक्तं।

प्रारब्धादीनां परमतत्त्वसेवया सुखज्ञानऋद्धिध्यानप्रत्यया भवन्ति।

सुखप्रत्ययो, यथा - तत्तच्चिन्तासंवित्तिः, तत्त्वचिन्ता-सन्तानसंवित्तिः, अनुभूतिसन्तानसंवित्तिः, आनन्दः परमानन्दः चेति; जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन प्रत्येकं त्रिधा।

अवध्यादिज्ञानप्रत्ययश्च।

बाह्य अर्थ के ग्राहक विशेष ज्ञानलक्षण के द्वारा जाना जाता हूँ; अत: 'मैं स्वसंवेद्य सामान्य ज्ञानानन्दस्वभाव वाला आत्मा हूँ।' इसी प्रकार दर्शन, चैतन्य आदि की उपलब्धि को भी जानना चाहिए - ऐसा उपाध्याय शिक्षक साधुओं ने कहा है।

परमतत्त्व के सेवन करने से तथा प्रारब्ध आदि के योग से सुख, ज्ञान, ध्यान, ऋद्धि आदि कारणों की प्राप्ति होती है।

इनमें सर्वप्रथम सुखरूप प्रत्यय को समझाते हैं - प्रथम उस परमतत्त्व की बार-बार चिन्तारूप संवित्ति होती है, फिर तत्त्व-चिन्तारूप सन्तान-संवित्ति होती है, तत्पश्चात् अनुभूतिस्वरूप सन्तान-संवित्ति उत्पन्न होती है, उसके बाद आनन्द और परमानन्द उत्पन्न होता है। वह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की होता है।

इसी प्रकार सुख के समान अवधि, मन:पर्यय आदि ज्ञानरूप प्रत्यय हैं।

ऋद्धिप्रत्ययो, यथा-आकाशगामिनी, विकुर्वणा, आहारक-शरीरः, तेजःप्रभा, अनिहारका, सर्वौषधी, अक्षीणमहानसा चेति।

अस्मिन्नेव काले आनन्दपर्यवसितं सुखमस्ति, प्रतिभा ज्ञानं च।

यदाऽशुभरागादि बाह्यविनोदेषु वीतरागी भूत्वा, भूतार्थ-परिछिन्नसमयसारज्ञानाऽऽदित्यः प्रतापप्रकाशेन निहतमहा-विभ्रममोहाऽन्धकारो भवति, तदा स एव प्रारब्धयोगी तदाऽऽत्म-ज्ञानानन्दस्वभावमनवरतं स्वसंवित्त्याऽनुभवन् विकल्पत्यागं करोति।

ऋद्धिरूप कारण अनेक प्रकार के हैं। आकाशगामिनी, विक्रिया, आहारक शरीर, तैजसप्रभा, अनिहारका सर्वौषधी, अक्षीण महानसा आदि।

इसी काल में आनन्दरूप सुख उत्पन्न होता है, प्रतिभा तथा ज्ञान की भी प्राप्ति होती है।

जब अशुभराग आदि बाह्य विनोद से वीतरागी होकर, भूतार्थ से जाने गये समयसारस्वरूप ज्ञानसूर्य के प्रताप व प्रकाश के द्वारा महाविभ्रमरूप मोहान्धकार का अभाव होता है, तब वही प्रारब्धयोगी उसी समय आत्मा के ज्ञानानन्द-स्वभाव को अनवरत स्वसंवित्ति के द्वारा अनुभवन करते हुए विकल्प का त्याग करता है।

इस प्रकार सर्व अवस्थाओं तथा सर्वत्र क्षपकश्रेणी में आरूढ़ योगी की ऐसी ही परिणति होती है।

सर्वाऽवस्थायां सर्वत्र तस्मात् क्षपकक्षेण्याऽऽरूढः।

यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्याव्यवहारो निवर्तते, तथा निश्चयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते।

यथा निश्चयनयेन व्यवहारविकल्पो निवर्तते, तथा स्वपर्यवसितभावेनैकत्वविकल्पोऽपि निवर्तते।

एवं हि जीवस्य योऽसौ स्वपर्यवसितस्वभावः, स एव नयपक्षातीतः।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

यः कार्यद्वयवर्ज्जनोर्ज्जिततटोल्लूसन्नयोर्मीमिमा-
माप्लाव्योच्छलदच्छबोधपरमानन्दामृतोद्वीचिभिः।

जिस प्रकार सम्यक् व्यवहार से मिथ्या व्यवहार का निराकरण होता है; उसी प्रकार निश्चय के द्वारा व्यवहार का विकल्प भी निवृत्त होता है।

जिस प्रकार निश्चयनय द्वारा व्यवहार का विकल्प निवृत्त होता है; उसी प्रकार स्वपर्यवसित स्वभाव (परम निरपेक्ष स्वाश्रित स्वभाव) के अवलम्बन से एकत्व का विकल्प भी छूट जाता है।

इस प्रकार **जीव का जो स्वपर्यवसित स्वभाव** है, वही **नयपक्षातीत** है।

सम्यक् नयों की भूमि तट के, शुभ अशुभ को क्षय करे।
सद्बोध के आनन्द अमृत की उछलती तरंगें।।
रागकृत दुःख-ज्वाल क्रोधित मोहरूपी मगर से।
सत् रत्नमय परमार्थ सागर! जगत् की रक्षा करे।।८।।

वल्गद्रागजदुःखवाडवशिखा, मोहोग्रनक्रोर्ज्जितः,
सद्रत्नः परमार्थवारिधिरसौ पायादपूर्वो जगत्॥ ८॥

(मालिनी)

हिततममिति सम्यग्देवसेनोक्तमेतत्,
श्रुतभवनसुदीपं, ध्वस्तमोहान्धकारम्॥
प्रकटितसकलार्थमुक्तिपूर्यां यियासुः,
स्वमनसि नयचक्रं भव्यलोको दधातु॥ ९॥

श्लोकार्थ ८ – जो सम्यक् नयरूपी पृथ्वी के तट, शुभ और अशुभ – दोनों प्रकार के कार्यों (भावों) को दूर करने में समर्थ है तथा जो उछलती हुई स्वच्छ सम्यग्ज्ञान की परमानन्द दशारूपी अमृत की उत्कृष्ट तरङ्गों से आप्लावित है – ऐसा सम्यग्दर्शन आदि रत्नों से परिपूर्ण अपूर्व परमार्थ समुद्र! भीषण रागजन्य दुःख-रूपी बडवानल की ज्वाला एवं मोहरूपी क्रोधित मगरों से इस जगत् की रक्षा करें – ऐसी आचार्यदेव ने भावना भाई है।

भव्य जीवों के लिए, जो परम हितकारी अहो!।
मोहतम नाशक प्रकाशित, करे सर्व पदार्थ को।।
देवसेनाचार्य विरचित, श्रुतभवन सुदीप को।
नयचक्र धारण करें उर में, मुक्तिगामी जन अहो!।।९।।

श्लोकार्थ ९ – इस प्रकार मोहान्धकार को नाश करने वाले जगत् के भव्यजीवों के लिए अत्यधिक हितकारी, मुक्तिपुरी के इच्छुक जीवों को सकल पदार्थों के प्रकाशक श्रीमद् देवसेनाचार्य विरचित इस '**श्रुतभवनदीपक नयचक्र**' को सकल जगत् के भव्य जीव अपने मन में धारण करें।

प्रगटमिह हि पद्यं, नाटकं चाथगद्यं,
किल रचितमपूर्वं, चारुचम्पूस्वरूपं॥
ललितपदवितानं, सर्वशास्त्रैकसारं,
भवजलधिसुपोतं, मंगलं मंगलानां॥ १०॥

इति **श्री देवसेन भट्टारक**विरचिते व्योमपण्डितप्रतिबोधके **श्रुतभवनदीपके नयचक्रे निश्चय-व्यवहारयोरविनाभावित्व-निर्णीति-कथनो** नाम **तृतीयोऽध्यायः** समाप्तः।

(वीर छन्द)

गद्य-पद्यमय सुन्दर चम्पू, ललित पदों का है विस्तार।
भवसागर का पोत सुमंगल, इसमें सब शास्त्रों का सार।। १०।।

श्लोकार्थ १० - यह गद्य-पद्यमय सुन्दर चम्पूस्वरूप नाटक ललित पदों के विस्तार से युक्त है, सम्पूर्ण शास्त्रों के सारस्वरूप है, संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए जहाजस्वरूप है तथा सर्व मंगलों में परम मंगलस्वरूप है।

इस प्रकार **श्रीमद् देवसेन भट्टारक** विरचित **व्योमपण्डित** को प्रतिबोध कराने वाले '**श्रुतभवनदीपक नयचक्र**' में **निश्चय-व्यवहार के अविनाभाव का निर्णय** का करने वाला **तृतीय अध्याय** पूर्ण होता है।

पद्यानुवादकर्ता की भावना

अहो भाग्य! अनुवाद हुआ, श्रुतभवनदीप के छन्दों का।
भवसागर को पार करूँ, चढ़कर श्रुतज्ञानमयी नौका।। ११।।

* * *

परिशिष्ट

समयसार गाथा ११ एवं उसकी टीका

अब, यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ''पूर्व में यह कहा गया था कि व्यवहार को अङ्गीकार नहीं करना चाहिए, परन्तु जो परमार्थ को कहने वाला है, ऐसे व्यवहार को क्यों नहीं अङ्गीकार करना चाहिए ?'' — इसके उत्तर में गाथासूत्र कहते हैं —

ववहारोऽभूदत्थो, भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु, सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।। ११।।
व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सुदृष्टि निश्चय होय है।। ११।।

अर्थ — व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है — ऐसा ऋषीश्वरों ने दर्शाया है; वहाँ **जो जीव, भूतार्थ के आश्रित होता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है॥ ११॥**

टीका — व्यवहारनय, सर्व ही अभूतार्थ होने से अविद्यमान, असत्य और अभूत अर्थ को प्रगट करता है और एकमात्र शुद्धनय ही भूतार्थ होने से विद्यमान, सत्य और भूत अर्थ को प्रगट करता है।

इसी बात को दृष्टान्त से दिखाते हैं —

जैसे, प्रबल कीचड़ के मिलने से, जिस जल का स्वाभाविक एक निर्मल स्वभाव छिप जाता है – ऐसे जल को पीनेवाले पुरुषों में, बहुत से तो जल और कीचड़ का भेद नहीं करते हुए, मलिन जल को ही पीते हैं।

तथा थोड़े से ही जीव, मलिन जल में अपने हाथ से कतकफल या निर्मली को बिखेर कर डाल देने मात्र से ही, कीचड़ और जल का भेद हो जाने से, अपना पुरुषाकार दिखाने वाले (अथवा स्वपुरुषार्थ से प्रगट होने वाले) जलस्वभावरूप सहज एक निर्मल भाव वाले जल को ही पीते हैं।

उसी प्रकार प्रबल कर्म के मिलने से जिसका स्वाभाविक एक ज्ञायकभाव छिप गया है – ऐसे [संसारी] आत्मा का अनुभव करने वाले पुरुष, आत्मा और कर्म का भेद नहीं करते, क्योंकि व्यवहार में ही विमोहित हृदय वाले तो भावों के विश्वरूपत्व अर्थात् अनेकरूपत्व को प्रगट कर अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं।

तथा भूतार्थरूप शुद्धनय को देखने वाले, अपने बुद्धिबल के प्रयोग से डाले गये शुद्धनय के अनुसार ज्ञान होने मात्र से उत्पन्न, आत्मा और कर्म के भेद (अथवा भेदज्ञान) से अपने पुरुषाकाररूप स्वभाव (अथवा स्वपुरुषार्थ) से प्रगट हुए स्वाभाविक एक ज्ञायकभाव के कारण प्रद्योतमान या प्रकाशमान एक ज्ञायकभाव अर्थात् शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं।

इस तरह **जो पुरुष, भूतार्थरूप शुद्धनय का आश्रय करते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि**

होते हैं और अन्य जो अशुद्धनय का सर्वथा आश्रय करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं। यहाँ शुद्धनय, कतकफल या निर्मली के स्थान पर है।

इस प्रकार **कर्म से भिन्न आत्मा को देखने वालों को व्यवहारनय अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।**

भावार्थ – यहाँ, व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो; उसे **अभूतार्थ** कहते हैं।

यहाँ ऐसा अभिप्राय जानना कि **शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, इसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता;** अतः इस शुद्धनय की दृष्टि में भेद को अविद्यमान या असत्यार्थ ही कहते हैं परन्तु ऐसा तो नहीं है कि भेदरूप कुछ वस्तु ही नहीं है।

यदि ऐसा माना भी जाए तो जैसे वेदान्ती भेदरूप अनित्य (पर्याय) को देख कर अवस्तु या माया कहते हैं और सर्व-व्यापक, एक, अभेद, नित्य, शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं, तो उसी के समान यहाँ भी सिद्ध हो; इसलिए सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टिपने का ही प्रसङ्ग आता है।

जिनवाणी स्याद्वादरूप है, वह प्रयोजनवश नयों को मुख्य-गौण करके कथन करती है; अतः यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो प्राणियों को अनादि ही से है और इसी का उपदेश भी बहुलता से सभी प्राणी परस्पर देते हैं। जिनवाणी में भी व्यवहारनय का उपदेश

शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक या प्रतिपादक) जान कर, बहुत किया है, परन्तु उसका फल संसार ही है।

इस जीव को शुद्धनय का पक्ष कभी आया नहीं और इसका उपदेश भी दुर्लभ है; अतः उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जान कर, इसी का उपदेश प्रधानता से दिया है कि - ''शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसके आश्रय से सम्यग्दृष्टि होते हैं; इसको जाने बिना जब तक जीव, व्यवहार में मग्न रहता है, तब तक उसे आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है - ऐसा जानना चाहिए।''

समयसार गाथा १२ एवं उसकी टीका

आगे कहते हैं कि ''जो यह व्यवहारनय है, वह भी किसी-किसी को, किसी काल में प्रयोजनवान है; अतः सर्वथा ही निषेध करने योग्य नहीं है'', क्योंकि ऐसा उपदेश दिया गया है —

सुद्धो सुद्धादेसो, णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।

देखे परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है।
ठहरा जु अपरमभाव में, व्यवहार से उपदिष्ट है।।१२।।

अर्थ – जो शुद्धनय तक पहुँच कर श्रद्धावान् हुए और पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान् हुए – ऐसे परमभावदर्शियों के लिए तो शुद्धनय जानने योग्य है; जिसमें शुद्ध का आदेश अर्थात् आज्ञा या उपदेश होता है, उसे शुद्धनय कहते हैं। **यहाँ शुद्ध आत्मा का प्रकरण है; अतः आत्मा को शुद्ध, नित्य, एक ज्ञायकमात्र जानना चाहिए** तथा जो पुरुष अपरमभाव अर्थात् श्रद्धान के और ज्ञान-चारित्र के पूर्ण भाव तक नहीं पहुँचे हैं, साधक अवस्था में ही स्थित हैं; उनको व्यवहार का देशीपना (आदेशी-पना) है अथवा वे व्यवहार के द्वारा उपदेश देने योग्य हैं॥ १२॥

टीका – यहाँ दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करते हैं - जो पुरुष, अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान, वस्तु के उत्कृष्ट असाधारण भाव का अनुभव करते हैं; उनको प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पकाये जा रहे अशुद्ध स्वर्ण के समान, अनुत्कृष्ट मध्यम भाव का अनुभव नहीं होता है; उनको शुद्धद्रव्य के उपदेश से प्रगट अचलित, अखण्ड, एकस्वभावरूप, एकभाव को जिसने प्रगट किया है - ऐसे सर्वोपरि अन्तिम तावपाली एक प्रतिवर्णिका या शुद्ध स्वर्ण के समान, शुद्धनय ही जाना हुआ प्रयोजनवान है।

लेकिन अन्य जो कोई पुरुष, प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पकाये जा रहे स्वर्ण के समान, वस्तु के अनुत्कृष्ट मध्यमभाव का अनुभव करते हैं, उनको अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान, वस्तु के उत्कृष्टभाव का अनुभव नहीं होता है; उनको अशुद्धद्रव्य के उपदेश से भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भावों को दिखानेवाला व्यवहारनय, विचित्र अनेक वर्णमाला के समान, जाना हुआ उस काल में प्रयोजनवान है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्था है।

तीर्थ अर्थात् जिससे तिरा जाए - ऐसा व्यवहारधर्म और **तीर्थफल** अर्थात् पार हो जाना अर्थात् व्यवहारधर्म के फलस्वरूप अपने स्वरूप की प्राप्ति होना है।

यहाँ, [संस्कृत टीका में] एक गाथा का उल्लेख किया गया है —

जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेण उण तच्चं।।

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि हे भव्यपुरुषों ! यदि तुम जिनमत में प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय – इस दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि **प्रथम** व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ या व्यवहारमार्ग का नाश हो जाता है और **अन्येन** अर्थात् निश्चयनय के बिना तत्त्व का नाश हो जाता है।

भावार्थ – जैसे, लोक में स्वर्ण के सोलह वान प्रसिद्ध हैं। वहाँ पन्द्रह वान तक के स्वर्ण में तो चूरी आदि अन्य वस्तुओं के संयोग के कारण कालिमा रहती है, अतः तब तक उसे अशुद्ध कहा जाता है। ताव (ताप) देते-देते जब वह अन्तिम ताव से उतरता है, तब सोलहवें वान वाला (सौटंची) शुद्ध स्वर्ण कहलाता है।

वहाँ, जिन जीवों को सोलहवें वान के स्वर्ण का ज्ञान-श्रद्धान और प्राप्ति हो गई है, उनको पन्द्रह वान तक के स्वर्ण का कोई प्रयोजन नहीं है, परन्तु जिनको जब तक सोलहवें वान के शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति नहीं हुई है, उनको तब तक पन्द्रह वान तक का स्वर्ण भी प्रयोजनवान है।

उसी प्रकार, यह जीव नामक पदार्थ, पुद्गल के संयोग से अनेकरूप (अनेक प्रकार से) अशुद्ध हो रहा है।

वहाँ जिनको सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक ज्ञायकमात्र का ज्ञान-श्रद्धान तथा उसके आचरण की प्राप्ति हो गई है; उन्हें तो पुद्गलद्रव्य के संयोग से जनित अनेकरूपता को बताने वाला अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है, लेकिन जब तक शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई है, तब तक जितनी अशुद्ध- नय की कथनी (वर्णन) हैं, उतनी [सभी] भूमिकानुसार प्रयोजनवान हैं।

वहाँ, जब तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो, तब तक जिनसे यथार्थ उपदेश की प्राप्ति होती है – ऐसे जिन-वचनों को सुनना, धारण करना; जिन-वचनों को कहने वाले श्रीगुरुओं की भक्ति आदि करना और जिनबिम्ब का दर्शन करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में प्रवर्तन करना प्रयोजनवान है।

जिनको श्रद्धान-ज्ञान तो हो गया हो, लेकिन यथार्थ साक्षात् प्राप्ति न हुई हो; उनको पूर्वोक्त कार्य, परद्रव्यों का आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत-महाव्रतों का ग्रहण तथा समिति, गुप्ति, पञ्च परमेष्ठी के ध्यानरूप प्रवर्तन करना, उसरूप प्रवर्तन करने वालों की सङ्गति करना, विशेष ज्ञान करने के लिए शास्त्रों का अभ्यास करना, इत्यादि व्यवहारमार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना एवं अन्य को प्रवर्तन कराना – ऐसे व्यवहारनय का उपदेश और उसका अङ्गीकार करना प्रयोजनवान है।

यदि व्यवहारनय को कथञ्चित् असत्यार्थ कहने से, कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जान कर छोड़ दे तो शुभोपयोगरूप व्यवहार को छोड़ देने पर, शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति के अभाव में अशुभोपयोग में ही उल्टा आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसा स्वच्छन्दतारूप प्रवर्तन करे तो नरक आदि गतियाँ प्राप्त होकर, परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा।

इस प्रकार जब तक साक्षात् शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान है – ऐसा स्याद्वादमत में श्रीगुरुओं का उपदेश है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य, टीकाकार कहते हैं –

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके,
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वांतमोहः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव॥ ४॥

॥ रोला ॥

उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक,
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं।
मोह-वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय,
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं॥४॥

अर्थ – यद्यपि निश्चय-व्यवहाररूप दोनों नयों में विषय के भेद से परस्पर विरोध है, तथापि उस विरोध को दूर करने

वाले 'स्यात्' पद से चिह्नित जिनेन्द्र भगवान के वचन हैं, उनमें जो पुरुष रमण करते हैं और प्रचुर प्रीतिसहित उनका अभ्यास करते हैं; **वे पुरुष कैसे हैं? –**

जिन्होंने स्वयं अर्थात् स्वयमेव, बिना [किसी अन्य] कारण के अपने आप, मोह अर्थात् मिथ्यात्वकर्म के उदय का वमन किया है, वे पुरुष इस अतिशयरूप से प्रकाशमान परमज्योतिस्वरूप समयसार अर्थात् शुद्धात्मा का शीघ्र ही अवलोकन करते हैं।

यह समयसार कैसा है? – अनव अर्थात् नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है; जो पहले कर्मों से आच्छादित था, वह अब प्रगट व्यक्तरूप हुआ है।

और कैसा है? – अनय अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप कुनयों के पक्ष द्वारा अक्षुण्ण है अर्थात् खण्डित नहीं होने से निर्बाध है।

भावार्थ – जिन-वचन स्याद्वादरूप हैं। यद्यपि दोनों नयों के विषयों में विरोध दिखाई देता है; जैसे - जो सत्‌रूप है, वह असत्‌रूप नहीं होता; जो एक है, वह अनेक नहीं होता; जो नित्य है, वह अनित्य नहीं होता; जो भेदरूप है, वह अभेदरूप नहीं होता; जो शुद्ध है, वह अशुद्ध नहीं होता, इत्यादि प्रकार से नयों के विषय में परस्पर विरोध है; तथापि वहाँ जिनवचन, कथञ्चित् विवक्षा से जिस प्रकार सत्-असत्‌रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप वस्तु विद्यमान है, उसी प्रकार कह कर विरोध को मिटाते हैं, झूठी कल्पना नहीं करते हैं; इसलिए [जिन-वचन]

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, दोनों नयों में प्रयोजन के वश से शुद्ध-द्रव्यार्थिक को मुख्य करके निश्चय कहता है और अशुद्ध-द्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिक को गौण करके व्यवहार कहता है।

इस प्रकार जिन-वचनों में जो पुरुष रमते हैं, वे इस शुद्ध आत्मा को यथार्थरूप में प्राप्त करते हैं, उसे अन्य सांख्य आदि सर्वथा एकान्तवादी प्राप्त नहीं करते हैं; क्योंकि वस्तु, सर्वथा एकान्तपक्ष का विषय नहीं है।

वे [सर्वथा एकान्तवादी] एक धर्ममात्र को ही ग्रहण करके वस्तु की असत्य कल्पना करते हैं, वह असत्यार्थ ही है, अतः उनमें बाधासहित मिथ्यादृष्टिपना है – ऐसा जानना चाहिए।

समयसार गाथा १४३ एवं उसकी टीका

अब प्रश्न है कि जो पक्ष से अतिक्रान्त है, उससे दूर रहता है, उसका क्या स्वरूप है? – इसके उत्तररूप गाथा कहते हैं –

दोण्ह वि णयाण भणिदं, जाणदि णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि, किंचि वि णयपक्खपरिहीणो।।१४३।।

नयद्वय कथन जाने ही केवल, समय से प्रतिबद्ध जो।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्ष से परिहीन वो।। १४३।।

अर्थ – जो पुरुष, समय अर्थात् अपने शुद्धात्मा से प्रतिबद्ध है, आत्मा और आगम को जानता है, वह दोनों ही नयों के कथन को केवल जानता ही है किन्तु नयपक्ष को जरा

भी ग्रहण नहीं करता है। **कैसा है वह पुरुष?** – नयों [समस्त] के पक्ष से रहित है॥ १४३॥

टीका – पहले दृष्टान्त देते हैं – जैसे, सर्वज्ञ-वीतराग-केवली भगवान समस्त वस्तुओं के साक्षीभूत हैं, ज्ञाता-दृष्टा हैं; वे श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार और निश्चयनय के पक्षरूप दोनों नयों के स्वरूप को केवल जानते ही हैं, परन्तु किसी भी नय के पक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि केवली भगवान, निरन्तर उदयरूप स्वाभाविक केवलज्ञान के धारक हैं, इसलिए नित्य ही स्वयमेव विज्ञानघनस्वरूप हैं; इसी कारण श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्त होने से समस्त नयपक्ष के परिग्रह से दूरवर्ती हैं।

उसी प्रकार मति-श्रुतज्ञानी भी श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार और निश्चय, दोनों नयों के पक्षों को केवल जानते ही हैं।

यद्यपि इनको क्षायोपशमिक ज्ञान है, उसके कारण उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानात्मक विकल्पों का बार-बार उपजना होता है, तथापि परज्ञेयों के ग्रहण के प्रति उत्साह की निवृत्ति होने से वह नयों के स्वरूप के ज्ञातामात्र हैं तथा किसी भी नय के पक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि के द्वारा ग्रहण किया निर्मल नित्योदयस्वरूप चिन्मय समय अर्थात् चैतन्यस्वरूप अपने शुद्धात्मा से उसकी प्रतिबद्धता होती है; इसलिए वे स्वरूप के अनुभव के समय स्वयमेव केवली के समान विज्ञानघनरूप हो जाते हैं।

इसी कारण श्रुतज्ञानस्वरूप समस्त अन्तरङ्ग और बाह्य जल्प अर्थात् अक्षरात्मक विकल्पों की भूमिका से अतिक्रान्त होने से केवली की ही तरह वह समस्त नयपक्षों के ग्रहण से दूर ही है। इस प्रकार मति-श्रुतज्ञानी भी निश्चय से समस्त विकल्पों से दूरवर्ती परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थ – जैसे, केवली भगवान सदा नयपक्षों के ज्ञाता-दृष्टा हैं; उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जिस समय समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभव करता है, उस समय नयपक्ष का ज्ञाता ही है। यदि वह एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो उसे मिथ्यात्व से मिला हुआ पक्ष का राग हो जाए।

यदि प्रयोजनवश वह एक नय को प्रधान करके ग्रहण करे तो मिथ्यात्वरहित चारित्रमोह के पक्ष से राग रहता है और जब नयपक्ष को छोड़ कर, वस्तुस्वरूप को केवल जानता ही है, तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की तरह वीतराग जैसा ही होता है – ऐसा समझना।

* * *

(**सूचना -** उक्त गाथाओं, टीकाओं और उसके अनुवाद आदि पण्डित जयचन्दजी कृत एवं तीर्थधाम मंगलायतन से प्रकाशित 'समयसार वचनिका' के आधार से यहाँ संकलित किये गये हैं।)

* * *